श्री वनविहारी प्रसाद जी 'भूप',
को
सादर सप्रेम

संक्षेप में

हंसकुमार जी के निबंधों का यह संग्रह आपके सामने रखते हुए हमें प्रसन्नता हो रही है। तिवारी जी हिन्दी-संसार के सुपरिचित हैं। आप बहुत ही संयत, सुलझे हुए और लोकप्रिय निबंधकार हैं। आपके निबंधों का हिन्दी प्रेमियों द्वारा बड़ा समादर हो चुका है। आशा है, प्रस्तुत उपयोगी पुस्तक को आप अपनायेंगे।

वर्तमान परिस्थितियों में हम पुस्तक को आशानुरूप निकाल नहीं सके। भविष्य में संभवतः अपनी आशा का इच्छित रूप उपस्थित कर सकें।

प्रकाशक

सूची

मृत्यु और रवीन्द्रनाथ

कर्म-क्लान्त जीवन-ज्योति का शान्ति-तिमिर में निर्वापित हो जाना ही मृत्यु है। इस मृत्यु जितनी निश्चित वस्तु संसार में दूसरी नहीं। जन्म नहीं भी हो सकता है; किन्तु जन्म के अनन्तर मृत्यु अनिवार्य है। मूलतः जन्म और मृत्यु के बीच बहुत फासला नहीं। दीप की लौ जिस तरह अन्धकार की गोद में ही हँसती है, उसी तरह मृत्यु-मुख में जीवन-कमल विकसित

होता है। हमारी अपनी वोध-शक्ति की दीनता है कि हम इन दोनों में एक द्वन्द्व का आभास पाते हैं। पतझड़ की रिक्तता में ही वसन्त के यौवन का आभास है। ज्योति के नये-नये वर्णों के विकास के लिए प्रकाश और छाया समान रूप से प्रयोजनीय हैं। दोनों एक-दूसरे के कारण-स्वरूप हैं। शरीर है, तो छाया का भी अस्तित्व है। मृत्यु जीवन के साथ-साथ चलती है। अन्धकार के विना आलोक, दुःख के विना सुख और छोटे के विना बड़े के अस्तित्व की प्रतिष्ठा हो ही नहीं सकती। अंगरेज कवि ब्राउनिंग ने गाया है-'संसार में असफलता ही सफलता का अग्रदूत है; जीर्णता ही परिपूर्णता का सन्देशवाहक है। तान में बीच-बीच में दीर्घच्छेद क्यों आता है? इसीलिए कि संगीत फिर उच्छ्वास से पूर्ण हो।'

बुद्धि की दीनता से हम जीवन के एकमात्र अंश को ही जानते हैं। तस्वीर के एक ही रुख का ज्ञान होने के कारण हमें मृत्यु में उस सत्य की उपलब्धि नहीं होती, जिसे हम जीवन में पाते हैं। इसीलिए मृत्यु को साधारणतया हम अभिशाप कहते हैं और जन्म को वरदान। मृत्यु ही जीवन का चरम दुःख है और इसी को जीतना मानव का पुरुषार्थ है। हिन्दू-दर्शनों की भित्ति भी इसी दुःखवाद पर है। दर्शनों में चिन्तनशील मानव ने मृत्यु में अमृत का अनुसन्धान किया है। जीवन को हम दुखमय इसीलिए मानते हैं कि इसपर जरा-मृत्यु का अधिकार है। सृष्टि का श्रेष्ठतम जीव मनुष्य मृत्यु को नहीं जीत सका। यही उसकी दीनता और असहाय अवस्था का द्योतक है। जरा और मृत्यु ही जीवन का

दुःख तथा बन्धन है, मानव इन्हीं से मुक्ति पाने का प्रयासी है
ज्ञानी मनुष्य संसार को जरा-मृत्यु-दोष से दूषित मानते हैं।
जीवन जरा-मृत्यु का ग्रास है, इसलिए संसार दुःख का सा
माना जाता है, जिसे स्वयं भगवान् ही पार कर सकते हैं।
मनुष्य आदिकाल से जीवन-मरण की समस्या पर सोचता आ
रहा है। वह असत्य से सत्य, मृत्यु से अमृत और अन्धकार
आलोक की ओर जाना चाहता है।३ यही जीवन का ध
जीवन का एकमात्र उद्देश्य है। मरण-पीड़ित संसार की सनात
पुकार है —

ए अनन्त चराचरे स्वर्ग-मर्त्य छेये
सब चेये पुरातन कथा, सब चेये
गभीर क्रन्दन, 'जेते नाहि दिबो' हाय,
तबू जेते दिते हय, तबू चले जाय।४ —रवीन्द्रना

मृत्यु-मुख से बलपूर्वक निकाल लेने की शक्ति दीन मान
में नहीं और उसका असहाय आक्रोश आँसुओं में बहकर ह

---

१. जन्म मृत्यु जराव्याधि दुःख दोषानुदर्शनम्।—गीता, ८।१५।

२. तेषामहं समुद्धर्ता मृत्यु संसारसागरात्।—गीता, १२।७।

३. असतोमे सद् गमय,मृत्योर्मे अमृतं गमय, तमसोमा ज्योतिर्गमय
उपनिषद।

४. इस अनन्त चराचर में स्वर्ग से लेकर पृथ्वी तक सबसे पुरानी बात
सबसे गहरा रोना यही है कि 'मैं तुम्हें न जाने दूंगा।' लेकिन हाय
तो भी जाने देना पड़ता है, तो भी चला जाता है।

सन्तोष करता है। रोना ही मानव की सान्त्वना है जगत् का आधार है। कवि के शब्दों में—

मर्त्यभूमि स्वर्ग नहे, से जे मातृभूमि।
ताइ तार चोक्खे बहे
अश्रु-जल-धारा, यदि दु दिनेर परे
केह तारे छेड़े जाय दु दण्डेर तरे।[५]

हमारा जीवन अनन्त जीवन-धारा की एक लघु लहर है और मृत्यु एक अल्प विराम। हमारे यहां मृत्यु का नाम शिव है। शिव संहार के—विनाश के—देवता हैं, जिनसे विश्व का कल्याण होता है। मृत्यु ही जीवन की शान्ति है। लार्ड बेव्लम का कहना है—'मृत्यु यश का द्वार उन्मुक्त करती तथा द्वेष का द्वार रुद्ध करती है। जीवन को झंझटों से मुक्त करने वाली एकमात्र विभूति मृत्यु है।' नचिकेता ने जब यम से मृत्यु का रहस्य जानना चाहा था, तो यम ने बताया था-जन्म और मृत्यु केवल कल्पना है; चित्त-स्वरूप ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है।' देशी-विदेशी कवियों और दार्शनिकों ने जन्म-मृत्यु की समस्या पर बहुत तरह से प्रकाश डाला है; परन्तु कविगुरु रवीन्द्रनाथ के मृत्यु विषयक सिद्धान्त एक नवीन दिशा का निर्देश करते हैं।

साधारणतया लोग ऐसा कहते हैं कि हम काल काट रहे हैं; किन्तु अनन्त काल को कौन काट सकता है? इसी काल के

---

५. मर्त्यभूमि स्वर्ग नहीं, मातृभूमि है। इसलिए यदि दो ही दिन के बाद कोई उसे दो दण्ड के लिये छोड़ जाता है, तो उसकी आंखों से आँसू की धारा फूट पड़ती है।

प्रवाह में अगणित जीवन के बुद्बुद् प्रतिनियत उत्थित और विलीन होते हैं, काल में कहीं गांठ नहीं पड़ती। स्वयं रवीन्द्रनाथ की जीवन-तरिणी एक दिन इसी भँवर में डूब गई। प्राची में एक दिन जिसकी दिव्य किरणों का आलोक-सिन्धु उमड़ पड़ा था, प्रतीची में एक दिन उसी का अवसान हो गया। किन्तु रवीन्द्रनाथ वास्तव से भी अधिक व्यापक रूप में आज हम में विद्यमान हैं। ऊर्वशी जब पुरुरवा के प्रबल प्रेमपाश को छिन्न-भिन्नकर चली गई, तो पुरुरवा ने समग्र प्रकृति में, पृथ्वी के अणु-अणु में अपनी प्रियतमा को परिव्याप्त देखा। रवीन्द्र जब एक आधारभूत रूप में हमारी श्रद्धा और आकर्षण के केन्द्र थे, तब हम उन्हीं में उनको देख पाते थे। अब उनकी प्रतिभा के प्रत्येक क्षेत्र में हमें उनके दर्शन होते हैं। वे एक थे, अनेक हो गए; वे वह थे, अब हम हो गए। हकीकत में महापुरुषों की दो काया होती हैं। एक पंचभूत की काया और दूसरी यशः काया। रूप-परिवर्तन के लिए पंचभूत तो पंचभूत में समाहित हो गया, यशः काया और भी उज्ज्वल हो कर जीवित, वल्कि अमर हो गई। उन्हीं के शब्दों में—

तोमार कीर्तिर चेये तुमि जे महत्
ताई, तव जीवनेर रथ
पश्चाते फेलिया जाय कीर्तिरे तोमार
बारम्बार।[६]

---

६. अपनी कीर्ति से तुम जो बड़े हो, इसलिए तुम्हारे जीवन का रथ बार-बार तुम्हारी कीर्ति को तुमसे पीछे छोड़ता जाता है।

स्व० जमनालालजी की मृत्युपर आचार्य विनोवा भावे ने कहा था—'देह आत्मा के विकास के लिए है; परन्तु जिनका आत्मा विशेष उन्नत हो जाता है, उनके विकास के लिए देह में पर्याप्त गुंजाइश नहीं होती। उनका विशाल आत्मा देह के माप में समाता ही नहीं। तब देह को फेंककर देह-रहित अवस्था में ऐसे आत्मा अधिक सेवा करते हैं। और ऐसी स्थिति जमनालाल जी की हुई है। कम-से-कम मैं तो देख रहा हूँ कि उन्होंने आपकी और मेरी देह में प्रवेश किया है। ऐसी मृत्यु जीवित मृत्यु है। मृत्यु भी जीवित हो सकती है और जीवन भी मृत हो सकता है। जीवित मृत्यु बहुत थोड़ों की ही होती है।' और ऐसी ही जीवित मृत्यु हुई है रवीन्द्रनाथ की। वे मरकर अमर हैं और उनका गौरव यह है कि उनकी मर्त्य की वाणी स्वर्ग को पहुँची। रवीन्द्रनाथ ने मृत्यु में कभी भय की छवि नहीं देखी, मरण को जीवन-पथ की बाधा नहीं समझा। मृत्यु-अधर के अमृत को ही उन्होंने नव-नव जीवन का कारण रूप समझा और इसीलिये प्रतिमुहूर्त वे मृत्यु के आलिंगन को तैयार रहे। 'मरण' कविता में उन्होंने मृत्यु से प्रार्थना की—

तवे शंखे तोमार तोलो नाद
करि प्रलयश्वास भरण
आमि छूटिया आसिबो ओगो नाथ
ओगो मरण, हे मोर मरण ![७]

---

७. तब अपने शंख में प्रलय की साँस भरकर फूँको। हे नाथ, हे मेरे मरण! मैं दौड़कर आऊँगा।

क्योंकि कवि मृत्यु और जीवन के बीच में एक दुर्लंघ्य खाई की कल्पना ही नहीं करता, वह तो जीवन और मृत्यु को विश्व-जननी के दो स्तन मानता है। माता शिशु को जब एक स्तन से हटाकर दूसरे से लगाना चाहती है, तो अज्ञान शिशु इसलिए रो उठता है कि मैं दूध से वंचित किया जा रहा हूं; परन्तु जब वह फिर दूसरे स्तन से दूध पाने लगता है, तो चुप हो जाता है। इन दोनों स्तनों की तरह ही जीवन और मृत्यु की भी दूरी है। हम इस रहस्य से अनजान हैं, इसीलिये मृत्यु हमारे लिए भय का कारण है। वास्तव में मृत्यु विश्व-जननी का वरद हस्त है, जिससे वह मनुष्य को इस जन्म के स्तन से हटाकर उस जन्म-रूपी स्तन से लगाती है। ८

जीवन एक चिरन्तन विरह का रूप है और अनन्त मिलन ही जीवन की साधना है। जीवन-काल एक विरह का सागर है, जिसमें जीवन कमल के समान खिला है। ९ यह विरह है

---

८. '... ... ... से जे मातृपाणि
स्तन हते स्तनान्तरं लइतेछे टानि
स्तन हते तुले निले शिशु कांदे डरे
मुहूर्ते आश्वास पाय गिये स्तनान्तरे।'

९. विरह का जलजात जीवन विरह का जलजात।
वेदना में जन्म करुणा में मिला आवास।
अश्रु चुनता दिवस इसका अश्रु गिनती रात।
जीवन विरह का जलजात! —महादेवी

आत्मा का परमात्मा से। रवीन्द्रनाथ कहते हैं—

घरे-घरे आजि कत वेदनाय
तोमार गभीर विरह घनाय
कत प्रेम हाय, कत वासनाय
कत सुखे-दुखे काजे हे। १०

मानव-जीवन की सब प्रकार की साधनाएँ केवल इसी मिलन-परिणाम पर केन्द्रित हैं। इसी विरह को कबीर ने कहा है—

सब रव ताँत रबाब तन, बिरह बाजवै नित्त।
और न कोई सुन सकै, कै साईं कै चित्त॥

इस चिरन्तन विरह का पता या तो चित्त को है या प्रियतम को, जिसके चरणों में जा मिलने को आत्मा निशि-दिन रोती रहती है। हम चाहे इस रहस्य के मर्म से परिचित न हों; किन्तु एक अज्ञात उत्कण्ठा हम सब के अन्तर में अहर्निश घुलती रहती है। क्योंकि रात्रि के घने अन्धकार में अगणित गृहच्युत ग्रहों की तरह हम असंख्य मनुष्य जीवन-मृत्यु के अनन्त स्रोत में गिर पड़ते हैं।११ और तमाम जिन्दगी इसी की साधना में बीतती

---

१०. घर-घर में आज कितनी ही वेदना, कितने ही प्रेम और वासना तथा सुख-दुख में तुम्हारा ही विरह घनीभूत होता है।

११. '.........जबे मोरा शत-शत
गृहच्युत हतज्योति नक्षत्रेर मत
मुहूर्त खसिया पड़ि देवलोक होते
धरित्रीर अन्तहीन जन्म-मृत्यु-स्रोते।' —रवीन्द्रनाथ

है कि इस कर्म-स्रोत की अविच्छिन्न धारा से हमारी मुक्ति हो। 'निराला' के शब्दों में—

जहाँ नयनों से नयन मिले
ज्योति के रूप सहस्र खिले
बहती है जहाँ सदा नवरस धार
हमें जाना है उसके पार।

इस जग के पार जाने का रहस्य और कुछ नहीं, उस प्रीतम की पुकार है, उससे मिलने की उत्कण्ठा है। मायके में रहते हुए भी नारी को अपने पति की याद सताती रहती है। १२ वह पति को भूल कर नहीं रह सकती। पृथ्वी के अणु-अणु में, प्रकृति के प्रत्येक सौन्दर्य-कण में उस प्रीतम की छवि है।१३ बल्कि अंतर्पटपर भी उसके दर्शन हो सकते हैं, यदि कोई बाहर से अपनी आँख मूंद ले।१४ कारण, ईश्वर भी हम से बहुत दूर नहीं—वह हमारे बहुत निकट है। श्री एकहार्ट ने

---

१२. ज्यों तिरिया पीहर बसै, सुरति रहै पिय माँहि।
ऐसे जन जग में रहैं, हरि को भूलैं नाहिं॥—कबीर

१३. ईशावास्य मिदं सर्वं यत्किंच जगत्यांजगत्।
—ईश० उ० (लाली मेरे लाल की जित देखौं तित लाल)।

१४. दूध माँझ जस घीउ है, समुद माँझ जस मोति
नैन मींजि जो देखहू, चमकि उठै तस जोति॥

अथवा—

दिल के आईने में है तसवीरे यार;
जब ज़रा गर्दन झुकाई देख ली।

लिखा है—'वह वहुत दूर पर नहीं कि उसे दूर से पुकारा जाय। वह दिल के दरवाजे पर खड़ा है, और तव तक खड़ा है, जव तव तू द्वार खोलकर उसे अन्दर नहीं आने देता। तेरे द्वार खोलने और उसके अन्दर आने का समय केवल एक मुहूर्त है।'१५

मृत्यु को रवीन्द्रनाथ ने इसी महामिलन का दूत माना है, जिसके द्वारा पतिव्रता पति से जाकर मिलेगी। वे मृत्यु से कहते हैं:—

वरण-माला गाँथा आछे आमार चित्त माझे
कवे नीरव हास्य मुखे आसवे वरेर साजे
से दिन आमार र'वे ना घर केइ वा आपन केइ वा पर
विजन राते पतिर साथे मिलवे पतिव्रता
मरण आमार मरण, तुमि कओ आमारे कथा। १६

---

१५. ही इज नो फारदर ऑफ दैन दि डोर ऑव दी हर्ट। देअर ही स्टैंड्स ऐन्ड वेट्स एन्ड वेट्स अनटील ही फाइन्ड्स दी रेडी टू ओपन एन्ड लेट हिम इन। दाउ नीडेस्ट नॉट कौल हीम फ्रौम ए डिस्टैंस; टू वेट अनटील दाउ ओपनेथ इज हार्डर फौर हीम दैन फौर दी। ही नीड्स दी ए थाउजन्ड टाइम्स मोर दैन दाउ कांन्स्ट नीड हीम। दाइ ओपनिंग एन्ड हीज इन्टरिंग आर वट वन मोमेंट।

१६. मेरे हृदय में वरण-माला गूंथी रखी है, तुम वर वनकर हँसते हुए चुपचाप कव आओगे? उस दिन मेरा घर यह न होगा, तव कौन अपना और कौन पराया होगा? उस सूनी रात में पति से पतिव्रता का मिलन होगा।

इसी प्रकार का भाव सेन्ट जान ऑव दि क्रास ने भी प्रकट किया है—'मैं चुपचाप तुम्हारे पैरों के समीप आकर तुम्हें देखूंगा, ताकि तुम मुझे अपनी वधू बनाकर अपने में मिला लो। तुमको बिना पाये, तुमसे बिना आलिंगन किये, मेरी आत्मा को शान्ति नहीं। १७ चूँकि उस एकमात्र सत्य—ईश्वर—की जो उपलब्धि जीवन में हो रही है, उससे आत्मा का मिलन मृत्यु द्वारा ही हो सकता है, इसलिये रवीन्द्रनाथ मृत्यु से डरते नहीं, बल्कि प्रार्थना करते हैं कि मुझे उस महामृत्यु के सम्मुखीन कर दो—

श्येन सम अकस्मात् छिन्न करे उर्द्धे लये जाव
पंक कुण्ड हते।
महान् मृत्युर साथे मुखोमुखी करे दाव मोरे,
वज्रेर आलोते। १८

और जिस मृत्यु द्वारा उस महान् आत्मा से एकाकार हुआ जा सकता है, उसको जीतने का भी एकमात्र उपाय उस

---

१७. आइ वील ड्रॉ नीयर टू दी इन साइलेन्स एण्ड वील इनकवर दाइ फीट दैट इट मे प्लीज़ दी टू युनाइट मी टू दाइसेल्फ, मेकिङ्ग माइ सोल दाइ ब्राइड आई वील रीजोइस इन नथिङ्ग टील आइ ऐम इन दाइ आरम्स।

१८. इस पंक-कुण्ड से छिन्न करके अकस्मात् मुझे बाज की तरह ऊपर ले चलो और वज्र के आलोक में मुझे महामृत्यु के सम्मुखीन कर दो।

ज्योतिर्मय की शरण है:—

.........आमि जेनेछि ताँहारे
माहान्त पुरुष जिनि आँधारेर पारे
ज्योतिर्मय ताँरे जेने, ताँर पाने चाहि
मृत्युरे लाँघिते पारो, अन्य पथ नाहि। १६

वास्तव में अन्धकार के उस पार जो ज्योतिर्मय पुरुष है, हम उसी सम्पूर्ण ज्योति के अगणित लघु दीप हैं। २० उसी सम्पूर्ण ज्योति में समाहित होने की साधना हमारी चरम साधना है। ईशोपनिषद् के अन्तिम मन्त्र के अनुसार कोई सम्पूर्ण वस्तु संपूर्ण वस्तु से ही उद्भूत हो सकती है; परन्तु ऐसा होने से सनातन सम्पूर्ण की हानि नहीं होती।

"विलात-यात्रीर पत्र" में से एक में (बँगला तारीख २७ आश्विन; १३२७) रवीन्द्रनाथ ने 'मृत्यु' पर लिखा है—अखंड

---

१६. श्वेताश्वेतर उपनिषद के निम्न मन्त्र से आचार्य क्षितिमोहन सेन ने इसका सादृश्य दिखाया है—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्,
आदित्यवर्णंतमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति,
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।

२०. मृण्मय प्रदीप में दीपित हम
शाश्वत प्रकाश की शिखा सुषम,
हम एक ज्योति के दीप अखिल
ज्योतित जिन से जग का आँगन।—पंत

सत्य को जीवन और मृत्यु कभी विच्छिन्न नहीं कर सकते। जीवन में हम जिस सत्य को पाकर आनन्दित हैं, मृत्यु में भी हम उसी सत्य को पायेंगे। रात की नींद में निद्रित शिशु सहसा इस भय से रो उठता है कि उसने कल्याणी माँ को खो दिया है। यह सत्य समझने में उसे देर लगती है कि उसकी माँ अन्धकार में भी मौजूद है, रोशनी में भी। जीवन-मृत्यु के सम्बन्ध में हम भी उन बच्चों ही की तरह हैं। हम व्यर्थ ही भय से रोते हैं। हम सोचते हैं, सत्य को केवल जीवन में प्राप्त कर सकते हैं, मृत्यु में वह खो जाता है। किन्तु विश्व में प्राण की मूर्ति देखो, वह आनन्द की मूर्ति है। चारों ओर से पेड़-पौधा, पशु-पक्षी रूप से, शब्द से, गति से कितना आनन्द विस्तार करता है। अगर मृत्यु न होती, तो विश्व में प्राण का यह आनन्द रूप क्या टिक सकता? रात में छोटे दीपक में कितना थोड़ा स्नेह देकर कितनी छोटी बत्ती जलाते हैं! किन्तु उस छोटी शिखा में भय क्यों नहीं है? इसीलिए कि यह स्वतः सिद्ध है कि बत्ती चाहे बुझ जाय; पर सूर्य कभी नहीं बुझ सकता। विश्व में महाप्राण है, अनिर्वाण सत्य है, इसलिए क्षुद्र प्राण के बुझने की चिन्ता नहीं।.. जिसे तुमने प्यार किया है, जिसे सत्य रूप में जाना है, वह मृत्यु में भी सत्य है, इसपर दृढ़ विश्वास करके शोक मुक्त होओ।'

उस महाप्राण के अस्तित्व के ज्ञान के साथ विश्वमानव की कल्पना भी अपेक्षित है। मनुष्य के जीवन का धर्म उसके अन्तर्निहित सत्य में है और उस अन्तर्निहित सत्य का एक

व्यापक रूप है, जिसे हम सत्य के विश्व-रूप की आख्या दे सकते हैं। यह विश्व-रूप संकीर्ण "हम" के सत्य का नहीं हो सकता, यानी यह मानव-मन की वस्तु नहीं, जो मानव की संकीर्णता से अपने 'अहं' को विस्तीर्ण क्षेत्र में व्याप्त कर देता है, उसी में सम्भव है। ऐसी दशा में यदि 'हम' का रूप अत्यन्त छोटा हो, तो मृत्यु हमें पा बैठती है और हमारी यातना सहनशक्ति के बाहर हो जाती है। जब हम परमात्मा से अपनी सत्ता को अलग कर लेते हैं, तो हम मृत्यु में शान्ति-सलिल को नहीं पाते, अपितु उसका दुःख-शोक इतना प्रबल हो उठता है कि हमारे लिये उसको अतिक्रम कर सान्त्वना पाना दुष्कर हो जाता है:--

मृत्यु से धरे मृत्युर रूप, दुःख से हय दुःखेर कूप
तोमा हते जबे स्वतन्त्र हये आपनार पाने चाइ। २१
(गीतांजलि)

अंगरेज़ कवि ब्राउनिंग के अनुसार जरा-मृत्यु आदि अपूर्णताओं से हम इस बात का अनुमान कर सकते हैं कि इस लोक के पार हम लोगों के लिये एक पूर्ण जीवन प्रतीक्षा कर रहा है। वहाँ, उस लोक में हम लोगों की टूटी हुई जीवन-वीणा के सभी बिखरे सुर मिलकर एक परिपूर्ण संगीत की सृष्टि करेंगे। इस तरह हम देखते हैं कि जरा और मृत्यु परिपूर्णता

२१. जब तुमसे अलग होकर स्वतन्त्र रूप से मैं अपनी ओर देखता हूँ, तो मृत्यु मृत्यु का रूप धारण करती है और दुःख दुःख की खान बन जाता है।

की सूचना है। ऐसे ही एक लोक का रवीन्द्रनाथ ने भी बहुत स्थानों में उल्लेख किया है। यथाः—

वँधुर दीठि मधुर हये आछे
सेइ अजानार देशे।

अथवा—

एइ जनमेर एइ रूपेर एइ खेला
एबार करि शेष।

किन्तु इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि वर्ड्सवर्थ की तरह रवीन्द्रनाथ को भी परलोक में विश्वास था। वास्तव में रवीन्द्रनाथ परलोक-विश्वासी नहीं थे। इसके द्वारा उन्होंने अनन्त जीवन-धारा का ही परिचय दिया था। कवि जलालुद्दीन रूमी ने जिस प्रकार अपनी जन्म-कहानी में कहा है कि जब कुछ नहीं था, तब मैं शून्य में था, फिर पानी में, मिट्टी में, पेड़-पौधों में और अब इस तरह हूँ। उसी प्रकार रवीन्द्रनाथ ने भी अपने अस्तित्व का परिचय अपनी विभिन्न कविताओं में दिया है। 'समुद्रेर प्रति' में उन्होंने पृथ्वी को समुद्र की सन्तान कहा है। २२ 'वसुन्धरा' में उन्होंने दिखाया है कि पृथ्वी मुझे अपनी गोद में लेकर करोड़ों वर्षों तक सौरमण्डल की प्रदक्षिणा करती रही। २३ किन्तु उनके जिस बन्धु की दीठि उस पार मधुर है, वह तो सिर्फ उस पार के बन्धु नहीं, इस लोक

---

२२. हे आदिजननी सिन्धु, वसुन्धरा सन्तान तोमार, एकमात्र कन्या तव कोले।

में भी उनके जीवन को प्रतिनियत घेरे है:—

से गान आमि शोनावो जार काछे
नूतन आलोर तीरे
चिर दिन से साथे-साथे आछे
आमार भुवन घिरे।

अपनी 'चिरन्तन' कविता में उन्होंने कहा है, जब मैं चला जाऊँगा, तो कौन कहता है कि फिर उस प्रभात में मैं न हूंगा। तब सभी क्रीड़ा-कौतुक में यही मैं हूँगा। तब मुझे तुम नये नाम से पुकारोगे, नई बाहु-वल्लरी में मुझे बाँधोगे, जब चिरन्तन मैं फिर आऊँगा। २४

'चिर दिन' कविता में, 'अशेष' में इसी अनन्त जीवन-धारा का निर्देश है। वास्तव में जीवन का स्रोत तो दुर्निवार, अप्रतिहत है। जाने कब इस स्रोत का कहाँ आदि हुआ और कब

---

२३. ... ... तोमार मृत्तिका सने
आमारे मिशाये लये अनन्त गगने
अश्रान्त चरणे करियाछ प्रदक्षिण
सवितृ मण्डल, असंख्य रजनी दिन
युग - युगान्तर धरि।

२४. तखन के बले गो सेइ प्रभाते नेइ आमि
सकल खेलाय करवे खेला एइ आमि
नतून नामे डाकबे मोरे
बाँधबे नतून बाहुर डोरे
आसबो जबे चिर दिनेर सेइ आमि।

कहाँ अन्त होगा ? यह तो सदा ऐसा ही चला करता है। इसी को 'चंचला' कविता में उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है—

युगे - युगे एसेछि चलिया
स्खलिया स्खलिया
चुपे चुपे
रूप होते रूपे
प्राण होते प्राणे।
निशीथे प्रभाते
जा किछु पेयेछि हाते
एसेछि करिया क्षय दान होते दाने
गान होते गाने।

❀

तीरेर संचय तोर थाक पड़े तीरे
ताकास ने फिरे
सम्मुखेर वाणी, निक तोरे टानि
महास्रोते
पश्चातेर कोलाहल होते
अतल आँधारे—अकूल आलोते।

गीता में भगवान् ने कहा है—'आत्मा अमर है, यह अनादि है, अनन्त है।' रवीन्द्रनाथ में हम इसी भावना का प्राबल्य पाते हैं। जीवन-धारा को वे चिरन्तन मानते हैं। जीवन-मृत्यु में जो विच्छेद-का एक विराम है, उसके सत्य में उन्हें कहीं असामंजस्य नहीं दिखाई देता। यह जो जीवनी-शक्ति है, वह

उस सम्पूर्ण अर्थात् अनन्त जीवनी-शक्ति का ही आधारभूत है। फलतः उसकी कभी परिसमाप्ति नहीं, परिवर्त्तन होता है, जिसका एक संलग्न क्रम है। 'बलाका' की कविताओं में अनन्त जीवनी-शक्ति के इस अप्रतिहत आवेग को कवि ने यौवन की आख्या दी है—उस यौवन की, जो परिधि के बन्धन से सर्वथा मुक्त है। मृत्यु उसकी नवोढ़ा प्रेयसी है। घूँघट की ओट में उसके मुख की उज्ज्वल कान्ति से आँखें जुड़ा जाती हैं और उसी प्रेयसी का अधरामृत पानकर यौवन का नवोन्मेष होता है। हम जिसे जीवन का अवसान कहते हैं, वह उस अनन्त यौवन की गतिशीलता के लिए अनिवार्यरूपेण अपेक्षित है। प्रकृति के रूप बदलने की तरह यह यौवन भी अपना आधार परिवर्त्तन करता है। जिस पेड़ के फल-फूल चुक जाते हैं, उसी में नये-नये फल-फूलों से बहार आती है। यहाँ इतना ही विचारणीय है कि पुराने फल-फूल में जिस पेड़ की जीवनी-शक्ति विकास पा रही थी, उसमें नये फल-फूलों की प्रतिष्ठा भी उसी जीवनी-शक्ति से होती है—अर्थात् प्राण-धारा का क्रम-विवर्तन ही मुख्य बात है। प्राण का आधारभूत शरीर के अन्त होने पर वही प्राणावेश और देहाधार में रूप पाता है। यौवन विश्व के अक्षय जीवन की शोभा है, और यह जीवन उसी यौवन की लहरों से लयालव है। जिस संगम पर जीवन मृत्यु के गले लगता है, वहीं वह नई दिशा को नवीन रूप में वह उठता है। इसीलिए जीवन-मृत्यु के सत्य में समानता है।

एक अप्रकाशित पत्र में रवीन्द्रनाथ ने कहा है—'जीवन अमर है, इसीलिए बार-बार मृत्यु के बीच से उसे नवीन बना लेना पड़ता है। पृथ्वी में जरा या बुढ़ापा पिछला पहलू है, उसके सामने का भाग है जवानी। यही कारण है कि पृथ्वी में सर्वत्र हम जवानी को ही देखते हैं। जरा मानो उसके पीछे - पीछे खिसकती जाती है—उसे अभी - अभी देखते हैं, अभी-अभी नहीं। जैसे ही शीत में सब कुछ झड़ गया, वैसे ही देखते हैं कि शीत गायब है और उसकी रिक्तता को वसन्त ने भर दिया है। इससे पता चलता है कि जरा हमारे नवतर यौवन का वाहन है। पुरातन अपने को बार-बार पाना चाहता है, इसीलिए वह बार-बार अपने को खोता है। यदि वह खोकर पाने के बीच से न चले, तो पुरातन नूतन नहीं हो सकता। हमें अपने प्राणों को नूतन करना है, इसीलिए हम मरते हैं।'

समग्र विश्व के विकास के मूल में केवल नूतन-पुरातन की आँखमिचौनी चल रही है। २५ समग्र विश्व में एक ही महाप्राण का विकास हो रहा है। ईशावास्य मिदं सर्वं अथवा

---

२५. एमनि करे सारा वेला, चलछे लुकोचुरि खेला
नूतन-पुरातनेर चिर-संग।'

और—

आछे सेइ आलो आछे सेइ गान आछे सेइ भालोबासा।
एइ मतो चले चिरकाल गो शुधु जाउआ, शुधु आसा।
(मरण-दोला)

आनन्द रूपं मृतम् यद्विभाति। यहाँ जो-कुछ प्रकाशित हो रहा है, सब उसी का आनन्द-रूप, अमृत-रूप है। नचिकेता से यम ने कहा था, चित्-स्वरूप ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है जन्म और मृत्यु कोरी कल्पना है। उसी चित् स्वरूप ब्रह्म का ही हम सर्वत्र रूप देखते हैं। हम उस प्राण-स्वरूप ज्योति-सूर्य की अखण्ड सत्ता की अगणित किरणें हैं। कमल की सारी पंखुड़ियाँ जिस प्रकार कमल से जुड़ी हुई होती हैं, किरणें भी अपनी मूल सत्ता से विच्छिन्न नहीं। वे उस अखण्ड, सम्पूर्ण सूर्य के ही अंश हैं, जिनसे वे उद्भूत हुई हैं। अतः सम्पूर्ण की तरह सम्पूर्ण से निकले हुए रूप का भी विनाश नहीं होता, वल्कि सम्पूर्ण में उसके मिल जाने से नव-नव जीवन-किरणों की उद्भावना होती है। विरोध के विना समानता की सम्भावना नहीं। मृत्यु भी इसीलिए अनिवार्य है। 'निराला' ने कहा है—

मुक्ति हूँ मैं मृत्यु में आई हुई न डरो!

इसी डर में जीवन की पराजय है। अपनी अन्तिम कविता में कवि कहते हैं—

दुःखेर आँधार रात्रि बारे - बारे
एसेछे आमार द्वारे।
एकमात्र अस्त्र तार देखेछिनु
कष्टेर विकृत भाल, त्रासेर विकट भंगी जत
अन्धकारे छलनार भूमिका ताहार।

जत वार भयेर मुखोस तार करेछि विश्वास
तत वार हयेछे अनर्थ पराजय । २६

'सर्वनेशे' और 'आह्वान' में भी कवि ने कहा है कि कूद पड़ना ही जीवन है, पीछे पड़े रहना मृत्यु । 'आवर्तन' शीर्षक कविता में कवि ने इस रहस्य को इस प्रकार व्यक्त किया है—'पता नहीं, प्रलय-सृजन में यह किसकी चतुराई है कि भाव का रूप में निरन्तर जाना-आना लगा है । बन्धन अपनी मुक्ति ढूंढ़ता फिरता है और मुक्ति बन्धन में अपना बसेरा बाँधना चाहती है । २७ इसलिए रवीन्द्रनाथ के अनुसार मरण जीवन का पूर्ण विराम नहीं, अनन्त जीवन-धारा की गति का कारण है । जहाँ देह का अवसान होता है और जिसे साधारणतया दुनिया समाप्ति कहती है, वह मृत्यु नहीं नये जीवन-वेग का एक उत्स है । यही जीवन का अमृत-रस है । सुख में अमृत नहीं, भोग में अमृत नहीं, जीवन में अमृत नहीं, अमृत है मृत्यु से जीवन, जीवन से मृत्यु और पुनर्वार मृत्यु से जीवन के संघर्ष

---

२६. दुःख की काली रात बार-बार मेरे द्वार पर आई । उसका एक मात्र अस्त्र मैंने देखा था भाल पर अंकित कष्ट, त्रास की विकट भंगिमा—अंधकार में उसकी छलना की भूमिका । जब-जब मैंने उसके मुखौटे का विश्वास किया, तब-तब मेरी हार हुई ।

२७. प्रलय सृजने ना जानि ए कार युक्ति
भाव होते रूपे अविराम जाउवा-आसा,
बन्ध फिरिछे खूँजिया आपन मुक्ति,
मुक्ति मागिछे बाँधनेर माझे वासा ।

में। जीवन काल की अनन्त धारा में वह जाता है और अपना कोई मृत्यु-विजयी अमर चिह्न छोड़ जाता है। जैसा कि 'शाहजहाँ' का—

एक विन्दु नयनेर जल
कालेर कपोल तले शुभ्र समुज्ज्वल
ए ताजमहल !

उसी प्रकार 'विदाय' कविता में कवि ने कहा है:—

तवू ए तो स्वप्न नय
सव चेये सत्य मोर सेइ मृत्युंजय
से आमार प्रेम।
तारे आमि राखिया एलेम
अपरिवर्तन अर्घ्य तोमार उद्देशे।
परिवर्तन स्रोते आमि जाइ भेसे
कालेर यात्राय
हे बन्धु, विदाय !

कला-चर्चा

कला शब्द का प्रयोग इतने व्यापक अर्थ में होता रहा है कि कदाचित ही कोई सुकुमार और बुद्धिमूलक क्रिया को इसकी सीमा में प्रवेश-निषेध हो। मानवी कौशल से सम्बन्ध रखने वाले सभी काम, चतुराई भरी प्रायः सभी जानकारी कला कहलाती थी। और तो और, जूता पहनाना तक कला कहलाता था। 'प्रबन्ध कोश' में एक मजेदार घटना का जिक्र आया है। काशी के राजा जयंतचंद्र की एक रखेली थी। उसने एक दिन श्रीहर्ष कवि से प्रश्न किया कि तुम क्या हो? उत्तर में कवि ने कहा—मैं कलासर्वज्ञ हूँ। जवाब सुनकर उसने तत्काल कहा-अगर तुम कलासर्वज्ञ हो, तो मुझे जूते पहनाओ। कहा जाता है, कलासर्वज्ञता का सबूत देने के लिये कवि ने चमार का वेश धारण कर उसे जूता पहनाया और इस ग्लानि के मारे संन्यासी होकर निकल गया।

यही नहीं, प्राचीन ग्रन्थों में ऐसी अनेक कलाओं की लम्बी सूचियाँ हैं। उन सूचियों के मुताबिक ज्ञान, व्यापार, कार्य, कौशल, विद्या, मनोविनोद, स्त्री-प्रसादन, वशीकरण आदि सभी प्रकार की बातें कला हैं। वात्स्यायन की बताई हुई ६४ कलाओं का अर्थ और उद्देश्य विशेषतया वशीकरण और विलास है। 'कादंबरी' में चंद्रापीड़ की शिक्षा में जो कलायें

आयी हैं, उनमें ज्योतिष-विज्ञान जैसी उच्च विद्याओं से लेकर कूद-फांद और बढ़ईगिरी भी शामिल हैं। 'ललित विस्तर' में कोई ८६ कलाओं का विवरण है, जिनकी शिक्षा सिद्धार्थ को दी गयी थी। उनमें जीवनोपयोगी विभिन्न बातें तो हैं ही, कामसूत्र की ६४ कलाओं से मिलती-जुलती ६४ काम-कलायें भी आ गयी हैं। 'शुक्र नीतिसार' की ६४ कलायें भी थोड़ा बहुत हेर-फेर के साथ वही हैं। काश्मीर के पंडित क्षेमेंद्र ने सहृदय जनोपयोगी ६४ कलाओं के साथ सुनार की ६४, वेश्या की ६४, कायस्थ की १६ तथा ज्योतिषिओं की बहुविध धूर्तता की कला का उल्लेख किया है। 'प्रबन्ध कोश' ने ७२ कलाओं की फिहरिस्त दी है। कला की तालिका देने वाले ऐसे और ग्रन्थ भी हैं। लेकिन सब का सार है कि घूम-फिर कर लोगों ने एक ही बात कही है और वह यह कि कला कौशल है।

कला का यह तात्पर्य प्राचीन काल में ही समझा जाता था, ऐसी बात नहीं। आज भी ऐसे व्यापारों के साथ लोग कला शब्द का प्रयोग करते हैं। फलस्वरूप कला की संख्या निश्चित करना सर्वथा असंभव हो जाता है। लेखन, संपादन, पत्र-कारिता, चोरी, गिरहकटी, गाली, विज्ञापनबाजी, विक्रय, बोल-चाल, यहां तक कि जीना भी कला ही है। फिर कौन ऐसी बात या व्यापार बचा रहता है, जो कला नहीं ? किन्तु आज दिन कला जानकारों में एक विशेष अर्थ में समझी जाती है और उसकी चर्चा विशेष लोकप्रिय भी हो गई है। वह है ललित-कला अर्थात संगीत, काव्य चित्र, मूर्ति और वास्तु।

लौकिकता और आध्यात्मिकता, दोनों ही दृष्टियों से इस चारु कला का स्थान बड़े महत्त्व का है। यह विभाजन तो कदाचित् विदेश की देन है, किन्तु भारत में ललित-कला-साधना का अपना एक निजस्व रूप रहा है। ललित-कला के इन पांचों पायों को कलाओं में एक वर्ग-विशेप का स्वरूप पहिले दिनों न मिला हो, किन्तु कलाओं की सूचियां में इनका नाम अवश्य था। प्राचीन ग्रन्थों में जिनमें भी कला-सूची दी गई है, उनमें पंचाल और यशोधर की कलाओं के अतिरिक्त सब में ये कलायें आ गयी हैं, जो आज ललित कलायें गिनी जाती हैं। बृहत्-संहिता में वराहमिहिर ने भवन-निर्माण-कला का जिक्र किया है। वात्स्यायन ने गीतम्, वाद्यम्, नृत्यम्, आलेख्यम्, वीणाडमरुकवाद्यानि, वास्तुविद्या, काव्य-क्रिया आदि का वर्णन किया है। 'ललित विस्तर' में भी ग्रन्थरचितम् (ग्रन्थरचना), रूपम् (वास्तु कला), रूपकर्म (चित्रकारी), वीणा (वीणा बजाना), वाद्य-नृत्यम् (नाच-बाजा), लास्यम् (सुकुमारनृत्य), क्रियाकल्पः (काव्य अलंकार) इत्यादि का उल्लेख हैं। 'शुक्रनीतिसार' में अनेक रूपाविर्भावकृतिज्ञानम् (पत्थर, काठ पर आकृति-रचना), चित्राद्यालेखनम् (चित्रकारी) आदि का विवरण मिलता हैं। अवश्य इनमें उनके अंतःसौंदर्य और मर्मवाणी का मार्मिक प्रकाश नहीं मिलता, जैसी प्रचेष्टा कि आजकल की कलालोचना में पायी जाती है। 'ऐतरेय ब्राह्मण' में कला के मर्मोद्घाटन की चेष्टा हम पाते हैं। ऐतरेय ब्राह्मण के ऋषि ने कहा है—"ॐ शिल्पानि शंसति देवशिल्पानि"—शिल्पी अपनी कृतियों द्वारा

देवता के स्तव-गान करते हैं। "एतेषां वै शिल्पानाम् अनुकृतिः शिल्पम् अधिगम्यते"। अर्थात् सृष्टि में जो देव-शिल्प प्रस्फुटित हुआ है, उन्हीं की अनुप्रेरणा से कलाकारों की कृतियाँ हैं।

बहुत बार इस अनुप्रेरणा को हम भूल से अनुकरण समझ लेते हैं। 'एतेषाम् वै शिल्पानाम् अनुकृतिः' का यह तात्पर्य नहीं कि कला प्रकृति का अनुकरण है, अथवा कला नकलनवीसी है। बहुत लोग ऐसा समझते हैं और हूबहू नकल को ही सर्वोपरि सफल कला मानते हैं। इस अनुकृति शब्द से ऐतरेय के ऋषि का तात्पर्य कुछ और है। यह सृष्टि उस महान् स्रष्टा की कला है, काव्य है। इसीलिये प्राचीन ग्रन्थों में उसे कवि और कलाकार कहा गया है। किन्तु इस विश्व-सृष्टि के पहले स्रष्टा के आगे इसका कोई पूर्वरूप नहीं था, जिसकी नकल वह करता। यह तो उसके मन की आनन्दमयी अभिव्यक्ति है। 'अनुकृति' से ऋषि ने यह संकेत किया है कि जिस प्रकार किसी पूर्वरूप की अपेक्षा किये बिना, मन की अभिव्यक्ति से देव-शिल्प ने रूप पाया, मानुषी शिल्प वैसा ही हो, उसी की अनुप्रेरणा से, उसी के अनुरूप। वह प्रकृति का प्रतिरूप हो, ऐसा नहीं। भारतीय चित्रकला में सादृश्य को चित्र की प्रधान विशेषता माना गया है। चित्र-सूत्रकार ने लिखा है—चित्रे सादृश्यकरणं प्रधानं परिकीर्तितम्। किन्तु इस सादृश्य से वैसी निर्जीव प्रतिकृति का मतलब नहीं, जैसी कि कैमरे की तस्वीर में होती है। प्राचीन ग्रन्थों में ऐसे अनेक सादृश्य-चित्रों का उल्लेख मिलता है, जहाँ लोगों को चित्रों के बदले उन्हें

यथार्थ समझना पड़ा। एक जैन-ग्रन्थ में एक कथा है कि मिथिला के राजा कुंभराज के पुत्र ने एक चित्रशाला बनवाई। उसकी दीवार पर एक शिल्पी ने केवल अंगूठा देखकर राजकुमारी मल्लिका का पूरा चित्र बना दिया। राजकुमार को यह देख कर संदेह उत्पन्न हुआ कि राजकुमारी से शिल्पी का अच्छा संबंध नहीं, और उसने शिल्पी को प्राणदण्ड की आज्ञा दे दी। परन्तु, बाद में, सच्ची बात सामने आई। राजकुमार का भ्रम दूर हुआ, और शिल्पी को प्राणदण्ड देने के बजाय निर्वासित किया।

आवेहूब चित्रों के ऐसे और अनेक उदाहरण हैं। किन्तु इस वास्तविकता का आधार निर्जीव प्रतिकृति नहीं, कलाकार की कुशलता है, उसकी अंतर्दृष्टि है। कलाकार के अन्तर का बाह्य प्रकाश ही कला है। उसके अन्तर का आवेग जितना ही गम्भीर और व्यापक होगा, उसकी सृष्टि उतनी ही मार्मिक, गम्भीर और स्थायी होगी। ऊपर जैसे सादृश्य-चित्रों का उल्लेख किया गया है, वैसे चित्र कलाकार की ऐसी ही गम्भीर प्रेरणा के परिणाम होते हैं। नकल में वह सजीवता नहीं आ सकती, जो कला का सबसे बड़ा गुण है। अच्छे चित्रों के लिये भी यह सजीवता चाहिये—

"हसतीव च माधुर्य सजीव इव दृश्यते।"

कला अगर अनुकरण भर होती, तो उसकी वैसी जरूरत ही नहीं होती। वास्तव के सामने होते हुए उसकी नकल की कीमत

नहीं के बराबर ही होती है। इसलिये जो कला केवल नकल होती है, वह जनसाधारण को प्रिय तो शायद हो भी सकती है, श्रेष्ठ नहीं हो सकती। क्योंकि उसमें आनन्द का अक्षय भांडार नहीं रह सकता। ऐसी कला में साधना का स्थान नहीं होता, हर कोई उसे देख कर समझ सकता है। वह वस्तु की प्रतिकृति, घटना की पुनरावृत्ति भर ही तो हो सकती है। समाचार-पत्र के समाचार और उपन्यास की घटनाओं में जो अन्तर हो सकता है वही सच्ची कला और अनुकृति में है। सहज बोध्य होने से ही कोई कला श्रेष्ठ नहीं होती। लोकप्रियता कला की कसौटी है भी नहीं। हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि उच्च संगीत, श्रेष्ठ साहित्य सर्वजन-प्रशंसित नहीं होता और जो हर की जबान पर होती है, वह कला कौड़ी काम की नहीं होती। किन्तु इससे हमारा यह भी तात्पर्य नहीं कि दुर्बोधता ही कला की श्रेष्ठता है। देखना यह चाहिये कि कला की यह अस्पष्टता या दुर्बोधता किसके लिये होती है, सर्वसाधारण के लिये अथवा सहृदय-कला मर्मज्ञों के लिये। अगर सहृदय मर्मज्ञों के लिये वह दुरूह नहीं हो, तो सर्व-सुगम न होने पर भी वह कला है। जनसाधारण के आगे उच्चकोटि का शिल्प चिरकाल उपेक्षित होता है।

संस्कृत साहित्य में हम एक विशेष बात पाते हैं कि संस्कार-संपन्न व्यक्तियों के अतिरिक्त आम लोग या औरतें प्राकृत बोलती हैं। क्यों ? क्योंकि प्राकृत सर्व-सुगम भाषा है, उसे अशिक्षित और थोड़ी बहुत शिक्षा पाये हुए लोग भी सुगमता से

बोल और समझ सकते हैं। संस्कृत के लिये साधना की आवश्यकता होती है। उसे वे ही लोग बोल या समझ सकते हैं, जो संस्कृत, यानी संस्कार-संपन्न हैं। संस्कृत के अलावे, क्या पाली और क्या प्रादेशिक भाषायें, सब चलती भाषायें हैं, इसलिये सब की सब प्राकृत हैं। फलतः हम कह सकते हैं, भाषा में भावाभिव्यक्ति के दो रूप हैं संस्कृत और प्राकृत। कला की भी ठीक इसी तरह की दो भाषायें हो जाती हैं। कला की भाषा से यहाँ अभिव्यंजना का तात्पर्य है। ये दो कला-भाषायें संस्कृत और प्राकृत हैं। प्राकृत शिल्प popular art है, जो सर्व एवं सहज-बोध्य है। संस्कृत शिल्प-मर्मज्ञों के लिये है, विदग्धों के लिये है, और वही उच्चकोटि की कला है।

साधारणतया, कला को हम विलास की वस्तु मानते हैं, क्योंकि सीधे तौर पर जीवन के साथ उसका गहरा सम्बन्ध नहीं दिखाई पड़ता। जीवन में अन्न-वस्त्र की जैसी अनिवार्य प्रयोजनीयता कला की नहीं। कला न भी हो, तो भी जीवन चल सकता है, जिया जा सकता है। वैसे तो, कला ही क्यों, अनेक चीजों के न होते हुए भी जीवन चल सकता है, लेकिन वैसा जीना भी क्या जीना है! किसी प्रकार ढोये चलने को भी जीवन कहा जा सकता है? उसे तो हम महज विद्यमानता ही कहेंगे! जी तो जानवर भी लेते हैं। जानवर और मनुष्य के जीने में अन्तर है आत्म संस्कृति का, चेतना के आलोक का। यह आत्मसंस्कृति शिल्प की ही देन है। ऐतरेय ब्राह्मण के ऋषि ने कहा है—"आत्मसंस्कृतिर्वाव शिल्पानि छन्दोमयं"

आदमी एक विशेष परिस्थिति और रूप में हमारे सामने आता है—उसके उस विशेष प्रकाश को ही हम व्यक्ति कहते हैं। उस विशेष प्रकाश में वह अन्य लोगों से सर्वथा भिन्न हुआ करता है। व्यक्ति की तरह समष्टि-रूप में एक देश की अभिव्यंजना दूसरे से भिन्न होती है, जिसे हम उसकी विशिष्टता कहते हैं। शिल्प-साधना में जिन्हें भारतीय विशिष्टता नहीं दिखायी देती, वे आलोचना के नहीं, अस्पताल भेजे जाने के पात्र हैं।

रही आध्यात्मिकता की बात। भारतीय साधना का मूल सुर आध्यात्मिकता है, यह तो हमें मानना ही पड़ेगा, लेकिन केवल आध्यात्मिकता ही है, इसे हम नहीं मानते। लौकिक जीवन का उपभोग करना भारत ने औरों से अधिक अच्छी तरह जाना हैं। शुरू में हम भारतीय कलालोचना का जो संक्षिप्त परिचय दे आये हैं, उससे उसकी लौकिक जीवन-दृष्टि स्वतः प्रमाणित है। वल्कि ससार में ऐसा कोई देश, ऐसी कोई जाति नहीं मिलती, जिसमें कला और जीवन-दर्शन का ऐसा अविच्छिन्न समन्वय पाया जाता हो। पिछले दिनों, भारत में नागरिक होने के लिये कला-ज्ञान अनिवार्य था। राजसभायें, रईसों के दरबार, अंतःपुर, कोई ऐसा स्थान नहीं था, जहां कला सुपरिचित नहीं थी। सौंदर्य-बोध नागरिकों के जीवन का अंग था और प्रत्येक घर कलार्चना का मन्दिर।

जो भी हो, यह भी विचारणीय है कि क्या आध्यात्मिकता स्वप्नलोक की ही वस्तु है, वास्तव जीवन के लिये उसकी कोई उपयोगिता नहीं? हम समझते हैं, वास्तव जीवन के लिये भी

भारतीय मनीषियों ने कला को जीवन का विश्लेषण भर कह कर संतोष की साँस न ली, उसे जीवन के लिये अनिवार्य बताया। उसके बिना आत्मसंस्कृति संभव नहीं, जिसके बिना जीवन में छंदोमय चेतना की दीप्ति नहीं आ सकती। तंत्रों में भी कला माया के पाँच आवरणों में से पाँचवाँ आवरण मानी गई है और उसे जीवन को परमतत्व की ओर उन्मुख कर देने का साधन माना गया है।

भारत ने कला के आध्यात्मिक पक्ष की परिपुष्टि का शुरू से ही प्रयत्न किया है। पाश्चात्य विद्वानों में से अनेक, भारत की इस साधना की उपेक्षा करते रहे हैं। उनकी दो बड़ी शिकायतें हैं; एक तो यह कि कला-साधना में भारत अन्यान्य देशों से प्रभावित होता रहा है, उसकी कला में उसके निजत्व का प्रकाश नहीं। दूसरी यह कि आध्यात्मिकता के नाम पर भारत ने आदि से अन्त तक परलोक बनाने की ही चिन्ता की है, यथार्थ जीवन और युग उसके लिये सदा उपेक्षित रहा है। कहना बेकार है कि ये दोनों ही बातें सफेद झूठ हैं। या तो विदेशी विद्वान भारतीय कला के मर्म को पहचान न सके, अथवा नासमझयाह उसे हेय देखने की उनकी प्रवृत्ति है। किसी देश-विशेष की शिल्प-साधना का निजस्व रूप जानने के लिये उसकी संस्कृति के साथ जिज्ञासु की आत्मीयता होनी चाहिये। एक जाति रंग-रूप में एक-सा होते हुए भी दूसरे से भिन्न होता है। यह भिन्नता उसके व्यक्तित्व अथवा अपनी प्रकाश-भंगी में होती है। जाति के बाहरी आदर्श समझ लेना भूल है। प्रत्येक

आदमी एक विशेष परिस्थिति और रूप में हमारे सामने आता है—उसके उस विशेष प्रकाश को ही हम व्यक्ति कहते हैं। उस विशेष प्रकाश में वह अन्य लोगों से सर्वथा भिन्न हुआ करता है। व्यक्ति की तरह समष्टि-रूप में एक देश की अभिव्यंजना दूसरे से भिन्न होती है, जिसे हम उसकी विशिष्टता कहते हैं। शिल्प-साधना में जिन्हें भारतीय विशिष्टता नहीं दिखायी देती, वे आलोचना के नहीं, अस्पताल भेजे जाने के पात्र हैं।

रही आध्यात्मिकता की बात। भारतीय साधना का मूल सुर आध्यात्मिकता है, यह तो हमें मानना ही पड़ेगा, लेकिन केवल आध्यात्मिकता ही है, इसे हम नहीं मानते। लौकिक जीवन का उपभोग करना भारत ने औरों से अधिक अच्छी तरह जाना हैं। शुरू में हम भारतीय कलालोचना का जो संक्षिप्त परिचय दे आये हैं, उससे उसकी लौकिक जीवन-दृष्टि स्वतः प्रमाणित हैं। बल्कि संसार में ऐसा कोई देश, ऐसी कोई जाति नहीं मिलती, जिसमें कला और जीवन-दर्शन का ऐसा अविच्छिन्न समन्वय पाया जाता हो। पिछले दिनों, भारत में नागरिक होने के लिये कला-ज्ञान अनिवार्य था। राजसभायें, रईसों के दरबार, अंतःपुर, कोई ऐसा स्थान नहीं था, जहां कला सुपरिचित नहीं थी। सौंदर्य-बोध नागरिकों के जीवन का अंग था और प्रत्येक घर कलार्चना का मन्दिर।

जो भी हो, यह भी विचारणीय है कि क्या आध्यात्मिकता स्वप्नलोक की ही वस्तु है, वास्तव जीवन के लिये उसकी कोई उपयोगिता नहीं? हम समझते हैं, वास्तव जीवन के लिये भी

वह जरूरी है। दर-अस्ल वह गुण-विशेष ही तो आध्यात्मिकता है, जिससे जीवात्मा का कल्याण होता है।

किसी तरह जी सकनेवाले जीवन का यथार्थतः कोई मोल नहीं। जीवन सदा सुन्दरता से जीने की कामना करता है, इसीलिये दैहिक कामनाओं की ताड़ना के अतिरिक्त उसे आत्मा की वाणी भी सुननी पड़ती है। इसीलिये दैहिक भोग ही सर्वोपरि सत्य नहीं; आत्म-परिचय, आत्म-शुद्धि और आत्मोन्नति की आवश्यकता होती है। इसके बिना जीवन भी क्या! आध्यात्मिकता आत्मानुसंधान और आत्मोन्नति का उपाय करती है। इसीलिये हम सुनते हैं कि अंत में सुकरात कहता गया था कि वृद्ध-जवान सब से मेरी यही प्रार्थना है कि केवल नीरोग न हों, उनकी चिन्ता केवल देह पर ही केंद्रित न हो, वे आत्मोन्नति की भी चेष्टा करें।

देह और आत्मा के आपसी संबंध के बारे में हम में से अधिकतर लोगों की धारणायें भ्रांत हैं। साधारणतया लोग समझते हैं कि देह और आत्मा साथ-साथ हैं। एक के बिना दूसरे की स्थिति असंभव ही है। फिर यह प्रश्न ही कैसे उठ सकता है कि देह की चिन्ता निरर्थक है, आत्मा का ही चिन्तन करना चाहिए। पौधे की प्राप्ति उसके फल और फूल में देखी जाती है। किन्तु पौधा जिस तरह निर्जीव नहीं है, उसी तरह देह भी जीवित है। आत्मा से ही देह का जीवन नहीं है, जैसा कि हम समझा करते हैं। वास्तव में, देह स्वयं जीवित है। लेकिन आत्मा देह और मन की अभिव्यक्ति-विशेष है,

जिसके द्वारा प्रकृति के साथ जीवन और जीवन के साथ उसकी क्रियाशीलता का सामंजस्य रह पाया है। इसलिए हमारी सांसारिकता के लिए भी आध्यात्मिकता आवश्यक हो जाती है। सांसारिकता हमें अपने जीवन-यंत्र के प्रत्येक पुर्जे का मेल करना सिखाती है। सांसारिकता का जो मूल उद्देश्य है, उसी में आध्यात्मिकता की नीतियाँ निर्धारित होती हैं। धर्म-जीवन सांसारिकता का एक अंग है और धर्म की सबसे बड़ी जो महत्त्वाकांक्षा है, वह है आध्यात्मिकता। आध्यात्मिकता का आदर्श जगद्-हिताय है। उस तीर्थ में मानव का महामिलन होता है; भेद, वैमनस्य सब दूर हो जाते हैं। एक ऐसी स्वच्छ अन्तर्दृष्टि प्राप्त होती है कि हम समझ जाते हैं कि इस विराट् विश्व का कितना कुछ ग्रहणीय है, कितना कुछ परिहार्य। तात्पर्य यह कि आध्यात्मिकता एक ऐसी विशेषता है, जो कुछ विशेष नीति द्वारा जीवन के लक्ष्य का नियंत्रण करती है।

कला आत्मा का प्रकाश है, अतएव, आत्मोन्नति की जननी आध्यात्मिकता से उसका संबंध न हो, यह हो ही नहीं सकता। आध्यात्मिकता जिस प्रकार मनुष्य को जगद्-हिताय की स्थिति में पहुँचाती है, उसी स्थिति में मनुष्य को पहुंचाने का लक्ष्य कला का भी है। टाल्सटाय के शब्दों में—कला को बुद्धि से भाव की ओर अग्रसर होकर विश्वमानव को एक करना होगा, संसार में भगवान् का, प्रेम का राज्य स्थापित करना होगा, जो मानव-जीवन का चरम लक्ष्य है।

बर्गसाँ ने कहा है, हमारे व्यक्ति पुरुष की कर्म-चंचल

शक्तियों को सुला देना ही कला का लक्ष्य है (टु पुट टु स्लीप दि एक्टिव पावर्स ऑव आवर परसनलेटी)। यह स्थिति आत्मानन्द की है, जिसे आलंकारिकों ने साधारणीकरण कहा है। कला की इस स्थिति में व्यक्तित्व का वैचित्र्य बोध नहीं होता। ऐसी स्थिति में कला-स्रष्टा का ही सब वैचित्र्य नहीं डूब जाता, बल्कि दूसरों का चित्त उसमें तन्मय होकर अपने संस्कारों से बहुत ऊपर उठ जाता है, और तब वह ब्रह्मानन्द या 'जॉय फॉर एवर' का अधिकारी हो जाता है। आनन्द का यह प्रकाश ही शाश्वत-मानव का आत्म-प्रकाश है। कॉड्वेल ने काव्य के विषय में भी ऐसा ही कहा है कि काव्य मानव की अंकुरित आत्म-चेतना है, किन्तु उसके व्यक्ति-रूप-प्रकाश में नहीं, सब के साथ भावों के साझेदार के रूप में। ऐसी कविता, ऐसी कला ही सात्विक कला है, जिसमें विराटत्व न भी हो तो महिमा होती है, ज्वाला नहीं होते हुए भी उज्ज्वलता होती है और यह सात्विक शिल्प ही कलाकार की जीवन-साधना होता है।

भारतीय कला के विदेशी विवेचक

उन्नीसवीं शताब्दी से भारतीय कला पर बहुतेरे विश्वविश्रुत विदेशी विद्वानों की टीका-टिप्पणियाँ होती रही हैं। उन सबके योग-वियोग के बाद हासिल यही होता है कि यहाँ की मौलिक भाव-धारा तथा कला की आत्मा को समझने की उनकी साधिकार चेष्टा होती रही है। फलतः इसके प्रति उन्होंने अन्याय ही किया है। क्या अन्याय किया है, यह तो हम पीछे बतायेंगे, अन्याय क्यों किया है, पहले संक्षेप में इसे ही विचार लें। भारतीय कला के प्रति उनके अन्याय के मूलतः दो कारण हैं। दूसरों के कृतित्व को हीन समझने का एक अंध संस्कार एवं इसकी मूल रागिनी को न समझ पाने की स्वाभाविक विवशता। इनमें से पहले का न तो हम कारण बता सकते हैं, न इलाज। इसे हृदयंगम करने में वे पूरे सफल क्यों नहीं हो सकते, इस पर ही विचार किया जाय।

टाल्सटाय के अनुसार कला भावों को व्यक्त करने का वाहनमात्र है और उसकी भावुकता यदि सबके लिये सुगम न हो, तो उसे हम कला नहीं कह सकते। इसलिये उनका सिद्धान्त है कि जिस कला को टिप्पणी की आवश्यकता होती है, समझना चाहिये कि उसमें कोई न कोई कमी अवश्य है या कलाकार स्वयं भाव को संपूर्णतया उपलब्ध नहीं कर सका है।

हम समझते हैं, कला-संबंधी यह सिद्धान्त बहुत कुछ सही होते हुए भी बड़ा अनुदार है। इसी पूर्वग्रह के कारण टाल्सटाय बिथोवेन तथा वेगनर जैसे समर्थ कलाविदों के साथ न्याय नहीं कर सके। आलोचक-प्रवर रामचन्द्र शुक्ल भी पूर्वग्रह के कारण तुलसीदास के साथ पक्षपात और सूर आदि के साथ अन्याय कर गये। कला-मर्मज्ञता और कला-विवेचन का आदर्श और मान इससे परे है। कला सर्वसुगम हो तो शायद सोना में सुगंध हो, पर अगर उसमें कारणवश ऐसी सहजबोधता न आ सके, तो उसे हम सर्वथा अस्वाभाविक नहीं कह सकते। ऐसा होता है। यद्यपि कला में देश, काल और पात्र का महत्व नहीं होता, मानव-मन की सार्वजनीन वृत्तियाँ ही उसकी भित्ति होती हैं, फिर भी कई कारणों से उसकी भावुकता सर्व-सुगम नहीं भी होती है। कला-सृष्टि में आधार से आधेय, रूप से प्राण को सदा से प्रधानता दी जाती है। फिर भी हमें मानना होगा कि कला द्वारा सत्य की पूजा सौंदर्य-रचना से होती है। अरूप को रूप, अमूर्त को मूर्त में प्रकट करना ही सौंदर्य-शास्त्र का विधान है। केवल वाक्य काव्य नहीं, उसका रसात्मक होना जरूरी है और इस रसात्मकता के लिए रूप-रचना, शृंगार [illegible] हो जाता है। इसीलिये जिन स्थूल आकारों में, जिन बाहरी उपकरणों के द्वारा कला व्यक्त होती है, उन्हें आप महत्वहीन और हेय नहीं कह सकते। इस अनंत सृष्टि में एक ही सत्य का जो [illegible] रूप है, उसकी एकता और [illegible] का आभास हमें सौंदर्य-भावना में है। कला के

यही आवश्यक बाहरी उपादान उसके सहजबोध में व्यवधान डालते हैं। देश-काल-पात्र से परे की कला यहीं देशी-विदेशी उपकरण से सुगम रसानुशीलन की दृष्टि से जरा दुर्बोध हो उठती है। क्योंकि बहिर्जगत् के निरपेक्षरूप की हमें धारणा नहीं होती। उसे हम जिस रूप में ग्रहण करते हैं, वह एकांत आपेक्षिक (रिलेटिव) होता है, निरपेक्ष (एबसोल्यूट) नहीं। इसके मूल में वस्तु, वस्तु का वातावरण और हमारा मन, ये तीन चीजें काम करती हैं। मन ही वस्तु के रूप और अर्थ का नियंता हुआ करता है। मन के अपने संस्कार के अनुसार बाहरी उपादान अच्छे-बुरे दीखते हैं। दुखी चित्त समग्र प्रकृति में शोक और उदासी ही देखता है, उल्लसित मन को प्रत्येक कण में उत्साह और आनंद मिलता है। सौंदर्यशास्त्रियों ने सौंदर्य को इसीलिये वस्तुगत नहीं, बल्कि मानसिक अवस्था माना हैं। एक ही चीज सबके लिये सुन्दर नहीं होती, न एक के लिये सब समय वह सुन्दर रह सकती है। अपने संस्कार के ऐनक से मन जब जैसा देखता है, दुनिया तब तैसी दीखती है।

संस्कार ही वास्तव में मन की आँख है। इन संस्कारों में कुछ तो सर्वथा मौलिक हैं, जिन्हें जर्मन दार्शनिक कैंट ने 'मस्तिष्क की श्रेणियाँ' कहा है। जीवन की विभिन्न अनुभूतियाँ इन मौलिक संस्कारों की समय-समय पर संख्यावृद्धि किया करती हैं। इन संस्कारों से, जो सबसे भिन्न-भिन्न होते हैं, मुक्त होकर हम कुछ नहीं देख पाते। महापुरुषों के लिए जिस प्रकार कार्लाइल ने कहा है—'अपनी कुछ स्वार्थ-सिद्धि किये

बिना हम किसी महान् व्यक्ति को भी नहीं देख सकते,' उसी प्रकार कलाकृतियों के विचार में हमारे लिये संस्कार के चश्मे को उतार फेंकने का उपाय नहीं। इन संस्कारों की परंपरा है, पूर्वापर सम्बन्ध है। वस्तुओं के साथ हमारे संस्कारों का योगसूत्र युग-युग का है। इसलिये प्रत्येक देश की कला में सार्वजनीन वृत्तियों के होते हुए भी सब कला सबके लिए कदापि समान उपभोग्य नहीं होती। होमर के इलियड तथा ओडेसी में करुणा, प्रेम, शौर्य-वीर्य वही है, जो महाभारत और रामायण में है। किन्तु रामायण-महाभारत का आस्वादन भारतीय के लिये जितना सुलभ है, उतना विदेशी के लिये नहीं। इसी तरह इलियड-ओडेसी का जो आनन्द एक यूरोपीय उठा सकता है, वह एक भारतीय के भाग्य में नहीं बदा होता। यही क्यों, किसी भी महान् कला-कृति के रसास्वादन में संस्कार हमें इसी प्रकार संकीर्ण कर देता है। कालिदास के विरही यक्ष की वेदना मानव-मात्र की वियोग-वेदना है, मिल्टन के 'पैरेडाइज

फाँदकर उस पार जाना पड़ता है। कहने का तात्पर्य यह कि रस-पिपासु आलोचक नहीं होता, परन्तु आलोचक को रसज्ञ भी होना पड़ता है। अब हम रसानुशीलन और आलोचना की प्रणाली पर विचार करते हुए देखें कि कला-विवेचक का उत्तरदायित्व कितना दुर्वह है।

अनन्त रहस्यमय जीवन और जगत् को आत्मसात् कर मनुष्यता का जो विराट् एवं सार्वभौम रूप प्रस्फुटित होता है, वही शिल्प का मूल उत्स है। शिल्प से हमारा तात्पर्य साहित्य, संगीत, चित्र, मूर्ति यानी सब प्रकार की ललित कला से है। इसलिये कि कलामात्र मानव-हृदय की सूक्ष्म रसानुभूति की सन्तान है। मात्र कला-रचना के लिये ही ऐसी अनुभूति का प्रयोजन नहीं, बल्कि कला के आस्वादन के लिए पाठक, स्रोता तथा द्रष्टा में भी इसका रहना अपेक्षित है। साधन की दृष्टि से कलाविद् और कला-प्रेमी की रसानुभूति एक ही है। किन्तु चूंकि दोनों की सिद्धियां दो हैं, इसलिये सृष्टि तथा आस्वादन की प्रणाली सर्वथा भिन्न हो जाती है। स्रष्टा के लिये तो वह प्रेरणा हो जाती हैं, पर द्रष्टा के लिये आनन्दोपलब्धि का आधार। कलाकार की रसानुभूति उसके मन में रूपायित बहिर्जगत् से उपयुक्त उपादान संग्रह कर कला के रूप में मुक्ति लाभ करती हैं, जब कि कलाप्रेमी सहृदय को उस स्थूल उपकरण (जिस आधार या आकार में कला आत्म-प्रकाश करती हैं) के अवलम्बमात्र से अपने मन में पुनर्वार उसी (जो कलाकार का था) बहिर्जगत् की पुनर्वार सृष्टि करके उस

विशेष रसानुभूति तक पहुंचकर आनन्द का भागी होना पड़ता है। सारांश यह कि जब तक संगीतकार और श्रोता की रसदृष्टि, चित्रकार और प्रेक्षक की भाव-दृष्टि एक नहीं होती, कला का अलौकिक आनन्द नहीं उठाया जा सकता। बहिर्जगत के रूप विन्यास के सम्बन्ध में कलाकार और कला-प्रेमी का मनोराज्य जितना ही अभिन्न होगा, कला का आस्वाद उतना ही स्वाभाविक, सुबोध और सम्पूर्ण होगा।

रसास्वादन का सौभाग्य सब को नहीं होता। अभिनवगुप्त ने काव्य-शक्ति की तरह रसज्ञता को एक दैवी वरदान माना है। यों तो दंडी और राजशेखर ने कवित्व-शक्ति का विकास भी अभ्यास से संभव माना है। दंडी कहते हैं, कवित्व-शक्ति वैसी न भी हो, तो चतुर व्यक्ति अलंकार शास्त्र के परिशीलन से काव्य-कला में सम्मान पा सकता है। राजशेखर ने अभ्यास के साथ एकाग्रता को अनिवार्य माना है। एकाग्रता से तात्पर्य आत्म-तन्मयता—योग का है। किन्तु केवल अभ्यास से कोई कवि नहीं होता, किसी हद तक उसमें प्रतिभा अनिवार्य है। अभिनवगुप्त ने 'अधिकारी चात्र विमल प्रतिभाशाली हृदय' के साथ आत्मतल्लीनता (योग) और अभ्यास को रसज्ञता के लिये भी आवश्यक माना है। अर्थात् काव्यानुशीलन या कला-रस-ग्रहण सबका सहज नहीं, इसीलिये रसज्ञ के यहाँ कम ही मिलते हैं।

यहाँ से हमारा संकेत कला के आलोचक या विचारक की ओर है। [illegible] रसज्ञ और [illegible] की विभावना [illegible]

ऊपर दिखा चुके हैं। उपर्युक्त विवेचन से हमारा अभीष्ट केवल इतना है कि हम समझें कि जब रसज्ञता इतनी टेढ़ी वस्तु है, तो कला की विवेचना कितना कठिन काम है। कलालोचक को पहले कला का मर्म जानना चाहिये, तब उसका धर्म-कर्म। कहने को तो हम आलोचक को कलामर्मज्ञ कहते हैं; किन्तु यथार्थ में वे कला-विज्ञानी होते हैं। वे कला का सत्य नहीं ढूँढ़ते, उसका तथ्य बताते हैं। तथ्य वस्तुओं में होता है सत्य वस्तुओं के प्राण में। इसीलिये उनकी आलोचना या तो विज्ञान की फिहरिश्त-सी लगती है या ऐतिहासिक विवरण प्रतीत होता है। उसमें रचनात्मक साहित्य की प्राणवत्ता और सरसता का नितांत अभाव होता है। फ्रांसीसी औपन्यासिक गुस्तव फ्लावर्त ने अपने एक मित्र को पत्र में ठीक ही लिखा था कि पुराने आलोचक एक प्रकार के वैयाकरण होते थे, आज के आलोचक इतिहासकार हैं। हम उस भविष्य की ओर आज भी आँखें बिछाये बैठे हैं, जब आलोचक स्वयं कलाकार होगा और उसकी आलोचना रचनात्मक साहित्य होगी। अपने निर्द्धारित सिद्धान्त पर कला की विवेचना भ्रांत है। कलाकार ही कला की सच्ची विवेचना कर सकता है और वही आलोचना का आदर्श भी है। रवीन्द्र ने अपने 'प्राचीन साहित्य' से इसका अच्छा उदाहरण रक्खा है। उससे आलोच्य रचना का आस्वाद और सौंदर्य और भी बढ़ गया है।

भारतीय भाव-धारा को अङ्गरेजी संस्कार के चश्मे से ठीक-ठीक देख सकना संभव नहीं, यह हम देख चुके। पाश्चात्य

और पौरस्त्य कला की रचनारीति, आदर्श, समीक्षा, सबमें अन्तर है। दृष्टिकोण के इस पार्थक्य का एक छोटा-सा उदाहरण देखिये। चार्ल्स लैंब ने एक जगह लिखा है—ऐसे ही नाम सबसे मधुर हैं, जो अपने उच्चारण में ही खुशबू बिखेरते हैं—जैसे, किट, मार्लो, हॉथार्नडेन के ड्रमंड, ड्रेटन आदि। भारतीयता इन शब्दों में कहीं कोमलता का आभास नहीं पा सकती, यहाँ के चित्र और मूर्तियों के बहुशीर्षत्व बहुबाहुत्व, मृगनयन, चंपक अंगुली, कंज कर-पद, बिंबोष्ठ, केहरिकटि के मर्म को अंग्रेजियत से जानने की कैसे उम्मीद की जा सकती है? प्रत्यक्ष शरीर-विज्ञान के परीक्षक सुन्दर की खोज में ऐसी तुलना का मर्म क्या जानें। हैवेल साहब ने इस विशेषता पर जितना ही प्रकाश चाहे डाला हो, संस्कार की बाधा दूर नहीं होती। संत-साहित्य में, जहाँ लौकिक-अलौकिक प्रेम के एक निविड़ मिलन-[illegible] उद्घाटित हुई है, उन विदेशियों को मिल भी क्या सकता था? इसी से भारतीय-कला पर विदेशी आलोचकों की प्रशंसा पर हम खुश भी होते हैं, आश्वस्त नहीं। उनके [illegible] महिमा [illegible] प्रकाशित नहीं कर सकता। [illegible]

[illegible]

है। कोई शिशु जब पुरखे की तरह रघुवंश का पाठ सुनकर उसकी तारीफ कर उठे, तो उसमें गर्व नहीं, उपहास है। भारतीय कला पर विदेशी सम्मति की मुहर ऐसी ही बात है। उनका अच्छा-बुरा फतवा ज्यादातर अर्थहीन ही है।

भारतीय संगीत पर विदेश के लोगों ने नहीं सी ही चर्चा की है। स्वर संगीत का प्राण है, सो वे शून्य में पर मार न सके। साहित्य की थोड़ी-बहुत चर्चा हुई है। उसका मान हम दो ही बातों से समझ सकते हैं। एक यह कि 'वेद गड़ेरियों का गीत है' और दूसरा रवींद्र की 'गीतांजलि' पर संसार-प्रसिद्ध नोबुल-पुरस्कार-प्रदान। 'गीतांजलि' से उनकी अन्य कृति कहीं श्रेष्ठ है। उन गीतों में जो दार्शनिक पृष्ठभूमि है, वह अंग्रेजों के लिए चाहे जितनी ही उच्चकोटि की हो, भारत में यह विशेष महत्व की वस्तु नहीं। कविता में दर्शन का यह दूध यहाँ पहले ही इतना मथा जा चुका है कि अब पानी ही अवशेष है। साहित्य अध्ययन की वस्तु है। यह श्रम भी वे इतना उठा नहीं सके। वे कहते थे, शिल्प-रचना में भारत का निजस्व कुछ है ही नहीं, जो कुछ है वह ग्रीस, मिश्र या चीन की नकल भर है। महज कुछ वर्ष पहले तक भी उनका यह सिद्धान्त था। रस्किन तक ने कृपापूर्वक इतना कहकर संतोष कर लिया कि जब प्रजा की बुद्धि भ्रष्ट होती है, तो कला का कैसा नाश होता है, इसका जलता उदाहरण भारतीय शिल्प है। रस्किन की वाणी संयत है किन्तु; अन्य लोगों ने तो जैसे भद्दी गालियों का ही प्रयोग किया है। डुगल स्टुअर्ट, विन्सेंट स्मिथ, सर जॉर्ज

बर्डवुड, गेजर्ट, ल्योनेल बारेट आदि ने भारतीय चित्र-शिल्प को तुच्छातितुच्छ नकल और चोरी की वस्तु ही सिद्ध करने में अपने सारे कला-ज्ञान का उपयोग किया। सर जॉन मार्शल को भी सारनाथ की कला में भी फारस के कौशल की झलक मिली। इस छिः-छिः की प्रतिक्रिया भी वहाँ के कुछ विद्वानों में समय-समय पर दिखाई दी। जैसे फर्गुसन ने उच्च कंठ से प्रचारित किया कि भारत की कला उनकी अपनी है, उसमें किसी का प्रभाव नहीं। बंबई की शिल्प-शाला के अध्यक्ष ग्रिफिथ और कलकत्ता कला-विद्यालय के आचार्य हैवेल ने इसी आध्यात्मिक महत्त्व का पक्ष उठाया। श्री रोजर फ्राइ

और इसमें अन्तर भी क्या है ? क्या भारत ने केवल धर्म और मोक्ष की ही साधना की ? काम और अर्थ का अंग उससे अज्ञात हो रहा ? इतनी बड़ी मिथ्या और क्या हो सकती है ? जिस जाति ने कला के सूक्ष्म से सूक्ष्म भेद किये, यहाँ तक उसकी विवेचना की कि उसके आगे अधिक सोचने की गुंजाइश ही नहीं रही, क्या उसने इस महत्व के पक्ष की इतनी उपेक्षा की ? 'चित्रसूत्र' विष्णु-धर्मोत्तर पुराण का एक अध्याय है। डा० स्तेला क्रेमरिश तथा कुमार स्वामी ने अंग्रेजी पाठकों के सामने उसे पेश भी किया है। उसमें चित्र के विषय में कहा गया है—

कलानां प्रवरं चित्रं धर्मकामार्थ मोक्षदम्।
माङ्गल्यं प्रथमं चैतद्‌गृहे यत्र प्रतिष्ठितम्॥

अर्थात् समस्त कलाओं में चित्र कला श्रेष्ठ है। वह धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, चारों पदार्थों को देनेवाली है। कला में लौकिक साधना का इससे अच्छा उदाहरण मार्शल साहब को और क्या दिया जा सकता है ? वास्तव में भारतीय कला-साधना का इतिहास यह बताता है कि लोक-परलोक का इतना अच्छा समन्वय संसार में अन्यत्र दुर्लभ है। दैनंदिन जीवन से कला का ऐसा अविच्छिन्न सम्बन्ध भारत के अतिरिक्त और कहीं नहीं स्थापित हुआ। यहाँ कला विलास का भी साधन थी, मानसिक तथा बौद्धिक विकास का भी। साहित्य, संगीत, चित्रकारी प्रत्येक परिवार के जीवन का अनिवार्य अंग थी। कला-गोष्ठियाँ हुआ करती थीं, जिनमें उसी को प्रवेश पाने का

भारतीय प्रचेष्टा का पूरा प्रमाण मिलता है। अजन्ता, बाघ, एलोरा, कांची, पद्दूकोटा आदि स्थानों के प्राप्त भित्तिचित्र इसके जलते उदाहरण हैं। सर ऑरेल स्टीन ने चीनी तुर्किस्तान में जो पुराने चित्र पाये थे, उनका आदर्श और रंग-रेखा-विधान इसी की गवाही देता है। अजन्ता, जो स्त्री जाति का रेखागत महाकाव्य है, इस विषय पर पूर्ण आलोक-पात करता है। श्री सुनीतिकुमार चटर्जी ने कहा है--"पहली सदी के भारतीय जीवन का जो यथार्थ चित्र अजन्ता में मिलता है, वैसा सारे संसार में नहीं मिल सकता। साथ ही अजन्ता में दो-चार ऐसी विराट् रचनाएँ है, जिनका आध्यात्मिक मूल्य ऐतिहासिक मूल्य से बहुत ऊपर है। विद्वान् आलोचक ने स्पष्टतया कला की दो दिशाओं का संकेत किया है। उसकी आध्यात्मिकता और उसकी ऐतिहासिकता। ऐतिहासिकता से उस वास्तव का पता चलता है, जो तत्कालीन भाव-धारा, सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, युगधर्म और वातावरण का परिचय देता है। प्रत्येक कला के ये दो पक्ष होने चाहिये। ग्रीस आदि की कला से भारतीय कला की महत्ता इसी में है कि उसने सिर्फ स्थूल सौंदर्य को महत्व दिया, जब कि भारत ने कला में रूप और प्राण दोनों की प्रतिष्ठा की। यथार्थ चित्रण यहाँ हुआ ही नहीं, ऐसा कहना भारतीय कला-रचना पर लांछन लगाना तो है ही, आलोचक की अज्ञता का भी परिचायक है। भारत ने कला-साधना में यथार्थ को बहुत महत्ता दान की। आवेहूब या सादृश्य चित्र को चित्रण-प्रणालियों में सबसे ऊँचा गिना गया है। 'चित्ते

साहश्य करणं प्रधानं परिकीर्तितम्'—चित्रसूत्र। 'शिल्प-रत्न' नामक सोलहवीं सदी के ग्रन्थ में "सादृश्य चित्र" का उल्लेख है—

जङ्गमा वा स्थावरा वा ये सन्ति भुवनत्रये।
ततत्स्वभावतस्तेषां करणं चित्र मुच्यते॥

किन्तु इस स्वाभाविक या यथार्थ चित्रण से फोटोग्राफी का अभिप्राय नहीं। ऐसे यथार्थ एवं जीवन-चित्र अनेक बने, साहित्य में इसके प्रमाण भी अनेक हैं। राजा दुष्यंत के बनाये जिस चित्र का उल्लेख कवि कालिदास ने किया है, वह यथार्थ चित्र का आदर्श है।

दीर्घापांगविसारि नेत्रयुगलं लीलांचित—भ्रूलतं
दान्तान्तः-परिकीर्ण-हासकिरणज्योत्स्ना-विलिप्ताधरम्।
कर्कन्धूद्युति - पाटलोष्ठ - रुचिरं तस्यास्तदेतन्मुखम्
चित्रेऽप्यालपतीव विभ्रमलसत् - प्रोद्भिन्न-कान्तिद्रवम्।

ऐसा जीवंत चित्र, जिसे देखकर 'अब बोला, तब बोला' का भान होता है, आदर्श पद्धति का ही परिणाम है। कालिदास ने लिखा है, शकुन्तला की सखी मिश्रकेशी को भ्रम हो गया था कि सचमुच शकुन्तला ही सामने खड़ी है। 'कुमार-विहार-शतक' का उल्लेख करते हुए एक पुस्तक में लिखा है कि उसमें जैन चैत्य की ऐसी दर्पणमय दीवारों का वर्णन है, जिसमें चित्र-शाला की एक दीवार की बनी तस्वीरें दूसरे में साफ दिखाई देती हैं। ग्रीस के 'एनेटोमी' ज्ञान का गर्व ऐसे सादृश्य चित्रों की कुशलता के आगे कहाँ टिकता है, सर जॉन मार्शल को यह जानना चाहिये।

विदेशी विद्वानों ने भारतीय कला के आध्यात्मिक पक्ष को मान तो लिया है, लेकिन उसे समझा भी है, इसका हमें विश्वास नहीं होता। जो कला-संपद् के ऐतिहासिक या बाह्य पक्ष को नहीं समझ सके, वे रूप-रस की गहन-गुफा मे ठीक-ठीक पहुँच सके हैं, इसपर विश्वास भी कैसे किया जा सकता है! यहाँ कला का दार्शनिक दृष्टिकोण और उस रूप में भारतीय कलाकारों की साधना का परिचय देने का स्थान नहीं है, उसके लिये एक अलग लेख ही अपेक्षित है। इतना ही हम कहेंगे कि आध्यात्मिक पहलू से परिचित होने का उनका आग्रह ही सतोषप्रद है। कवि पंत ने जैसे अपनी प्रगतिशील कविता के लिये बौद्धिक सहानुभूति से काम लिया है, उनकी रचना में उनका अपना अनुभव नहीं, उसी प्रकार संभवतः विदेशी विद्वानों ने विवशतावश ही भारत की आध्यात्मिक महत्ता के आगे माथा टेक दिया है। अन्यथा उन्हें यहाँ के उपनिषद् के रस-तत्त्व का ज्ञान भी होता। वे समझते कि जिस मोक्ष के कल्पना-लोक की उन्होंने उच्चता आँकी है, उसकी व्याप्ति यथार्थ के निम्न मूल में ही है। यह संसार ही उनकी दृष्टि में मोक्षधाम है—

भोगः योगायते सम्यक् मोक्षायते च संसारः।

धर्म और कला

"दि स्टूडियो आव दि आर्टिस्ट ऑव टुडे
उड् बी टेंपुल ऑव ह्यूमैनिटी टुमारो।" (१)

कला पर धर्म के प्रभाव विस्तार की कहानी पुरानी है। ऐसा भी कहा गया है कि सब प्रकार की ललित कलाओं का जन्म धर्म-भावना से ही हुआ है। किन्तु कला ने धर्म को भी अनुप्राणित किया है, यह भी सत्य है। कला का स्वभाव किसी हद तक सूर्य के स्वभाव से मिलता-जुलता है। सूर्य सहस्रों रश्मि-मुख से वसुन्धरा की सजलता को सोखता हैं। इसका यह निर्मम संग्रहण उदार-दान स्वरूप बादलों से वसुधा पर बरसता है। वसुधा सजल-श्यामल हो उठती है। साहित्य और कला समाज और धर्म के मात्र ऋणी ही नहीं, उनके महाजन भी हैं। जहाँ साहित्य समाज का अनुगामी है, वहीं वह समाज का नियामक भी है। समाज का दान लेने में ही उसकी झोली खुली नहीं होती, समाज को समृद्ध बनाने में भी उसका दामन उदार होता है।

धर्म की व्यापक प्रतिष्ठा में कला ने जो सहायता पहुँचायी है, उसके प्रमाण की आवश्यकता नहीं। इतिहास का प्रत्येक पृष्ठ

---

१. कलाकार की आज की चित्राङ्कणशाला कल मानवता का मन्दिर होगी।

इसका साक्षी है। धर्म और राज्य के प्रचार में भी कला ने हाथ बँटाया है। समग्र संसार में बौद्ध-धर्म जो इतना फला-फूला, उसमें बुद्ध की कलामयी मूर्तियों का कम कृतित्व नहीं, उनके रङ्ग-बिरङ्गे चित्रों से कम सहायता नहीं मिली। चीनी ग्रन्थों में इसका स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि सम्राट् मिंगटी ने एक रात स्वप्न देखा कि एक बहुत बड़ी स्वर्ण-मूर्ति राज-मन्दिर में प्रवेश कर रही है। दूसरे दिन लोगों ने उन्हें बताया कि भगवान् बुद्ध ने स्वप्न में आपको दर्शन दिया है। सम्राट् ने भारत में अपना दूत भेजा। यहाँ से बुद्ध की मूर्ति तथा अनेक ग्रन्थ मंगाये। मातङ्ग नाम का भारतीय विद्वान् भी उसी के साथ वहाँ गया था। कोरिया और जापान में भी बौद्ध-धर्म प्रचार मे चित्रों और मूर्तियों से बड़ी मदद मिली। एक विद्वान् ने लिखा है, "एण्ड इवन बुद्धिस्ट कङ्कर्ड द होल ऑव एशिया ऐज क्रिश्चैनिटी कङ्कर्ड दि होल ऑव यूरोप, दिस इज ड्यू टु दि फैक्ट दैट इट्स मिशनरीज़ हू टुक देयर वे टु कोरिया ऐण्ड चाइना, ऐज ट्रेडिशन टेल्स अस, सेट आफ आर्म्ड ओनली विथ सेक्रेड बुक्स आलसो इमेजेज ऐण्ड आइडोल्स।" (२)

ख्रीष्ट धर्म-प्रचार में तो कला ने इससे भी महत्वपूर्ण कार्य किया है। इस धर्म ने सेमेटिक तथा ग्रीक-रोमन के विरोध-भाव में ही आत्म प्रकाश किया। सेमेटिज्म मूर्तिवाद का कट्टर

---

२. ईसाई धर्म ने जिस तरह सम्पूर्ण यूरोप को जीता, उसी तरह बुद्धधर्म ने सम्पूर्ण एशिया को, कारण कोरिया और चीन जाने वाले प्रचारक धर्म ग्रन्थों और मूर्तियों से सुसज्जित थे।

धर्म और कला

"दि स्टूडियो आव दि आर्टिस्ट ऑव टुडे
उड् बी टेंपुल ऑव ह्यूमैनिटी टुमारो।" (१)

कला पर धर्म के प्रभाव विस्तार की कहानी पुरानी है। ऐसा भी कहा गया है कि सब प्रकार की ललित कलाओं का जन्म धर्म-भावना से ही हुआ है। किन्तु कला ने धर्म को भी अनुप्राणित किया है, यह भी सत्य है। कला का स्वभाव किसी हद तक सूर्य के स्वभाव से मिलता-जुलता है। सूर्य सहस्रों रश्मि-मुख से वसुन्धरा की सजलता को सोखता हैं। इसका यह निर्मम संग्रहण उदार-दान स्वरूप बादलों से वसुधा पर बरसता है। वसुधा सजल-श्यामल हो उठती है। साहित्य और कला समाज और धर्म के मात्र ऋणी ही नहीं, उनके महाजन भी हैं। जहाँ साहित्य समाज का अनुगामी है, वहीं वह समाज का नियामक भी है। समाज का दान लेने में ही उसकी झोली खुली नहीं होती, समाज को समृद्ध बनाने में भी उसका दामन उदार होता है।

धर्म की व्यापक प्रतिष्ठा में कला ने जो सहायता पहुँचायी है, उसके प्रमाण की आवश्यकता नहीं। इतिहास का प्रत्येक पृष्ठ

---

१. कलाकार की आज की चित्राङ्कणशाला कल मानवता का मन्दिर होगी।

इसका साक्षी है। धर्म और राज्य के प्रचार में भी कला ने हाथ बँटाया है। समग्र संसार में बौद्ध-धर्म जो इतना फला-फूला, उसमें बुद्ध की कलामयी मूर्तियों का कम कृतित्व नहीं, उनके रङ्ग-विरङ्गे चित्रों से कम सहायता नहीं मिली। चीनी ग्रन्थों में इसका स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि सम्राट् मिंगटी ने एक रात स्वप्न देखा कि एक बहुत बड़ी स्वर्ण-मूर्ति राज-मन्दिर में प्रवेश कर रही है। दूसरे दिन लोगों ने उन्हें बताया कि भगवान् बुद्ध ने स्वप्न में आपको दर्शन दिया है। सम्राट् ने भारत में अपना दूत भेजा। यहाँ से बुद्ध की मूर्ति तथा अनेक ग्रन्थ मंगाये। मातङ्ग नाम का भारतीय विद्वान् भी उसी के साथ वहाँ गया था। कोरिया और जापान में भी बौद्ध-धर्म प्रचार मे चित्रों और मूर्तियों से बड़ी मदद मिली। एक विद्वान् ने लिखा है, "एण्ड इवन बुद्धिस्ट कङ्कर्ड द होल ऑव एशिया ऐज क्रिश्चैनिटी कङ्कर्ड दि होल ऑव यूरोप, दिस इज ड्यू टु दि फैक्ट दैट इट्स मिशनरीज हू टुक देयर वे टु कोरिया एण्ड चाइना, ऐज ट्रैडिशन टेल्स अस, सेट आफ आर्म्ड ड ऑनली विथ सेक्रेड बुक्स आलसो इमेजेज एण्ड आइडोल्स।" (२)

खीष्ट धर्म-प्रचार में तो कला ने इनसे भी महत्वपूर्ण कार्य किया है। इस धर्म ने सेमेटिक तथा ग्रीक-रोमन के विरोध-भाव में ही आत्म प्रकाश किया। सेमेटिज्म मूर्तिवाद का [illegible]

---

२. ईसाई धर्म ने जिस तरह सम्पूर्ण यूरोप को जीता, [illegible] बुद्धधर्म ने सम्पूर्ण एशिया को, कारण कोरिया और [illegible] वाले प्रचारक धर्म ग्रन्थों और मूर्तियों से सुसज्जित थे

विरोधी था और ग्रीकोरोमन भाव उसका कट्टर हिमायती। पहले प्रतीक और रूपकों में इस धर्म की सङ्कीर्णता बहुत बढ़ गयी थी। बाद में बाइबिल तथा ईसा के जीवन की घटनाओं पर अनेकानेक पत्थर की मूर्तियाँ एवं कलापूर्ण चित्र बने, जिससे पैगान भाव विजयी बना। इसी पर खीष्ट धर्म की सफलता निहित है और इस शिल्प की अनुप्रेरणा से ही खीष्ट धर्म से होब्रू धर्म का प्रभाव अलग हुआ।—"वट् प्लैस्टिक आर्ट व्हिच फार्म्स दि ट्रू ऐण्ड एसेनशियल ऑव सेपरेशन विटविन् दि हिब्रू रिलीजन ऐण्ड दि क्रिश्चियन रिलीजन ऐट इट्स फर्स्ट आरिजिन हैज नॉट बीन ब्रॉट इनटु फ़ील्ड ऐज एन आरगुमेंट टु गिव् वेट् टु द एविडेंस ऑव दि इन्फ्लुएन्सेज ऑव ग्रीको रोमन सिविलाइजेशन।" (३)

किन्तु उपर्युक्त उद्धरणों से धर्म और कला के सम्बन्ध का निराकरण नहीं हो सकता। धर्म को हम जीवन का आधार मानते रहे हैं और कला को जीवन के विश्राम-काल में मनो-विनोद का एक क्षणिक साधन। धर्म के नाम पर अनायास ही हमारे हृदय में एक भक्ति होती है। कला के नाम पर आकर्षण चाहे जितना ही अधिक क्यों न हो, भक्ति नहीं होती। इसलिये कि कला को हम धर्म की कोटि में तो नहीं ही रखते,

---

३. ग्रीक-रोमन सभ्यता के प्रभावों के अस्तित्व को पुष्ट करने के लिये कभी प्लैस्टिक आर्ट को तर्क क्षेत्र में नहीं लाया गया, यद्यपि हिब्रू धर्म और ईसाई धर्म के पार्थक्य का वस्तुतः वही कारण है।

वह जीवन के लिए अनिवार्य है, यह भी महसूस नहीं करते। परन्तु वास्तव में बात और है। साध्य और सिद्धि की दृष्टि से कला और धर्म समान धर्म वाले हैं। जरा दार्शनिकों की नजर से देखें, तो कला और धर्म एक ही वृन्त के दो फूल दिखायी देंगे। धर्म भी मानव की अनुभूति के रस से परिपुष्ट होता है, कला भी। बाह्य-जगत् के रस से दो में से किसी का परिपोषण नहीं हो सकता। दोनों की जन्मभूमि भी एक है। जिस प्रबल इच्छा-शक्ति पर जाति का ज्ञान और धर्म जीवन अवलम्बित हैं, सच्ची कला भी उसी शक्ति से उद्भूत होती है। धर्म का जो धर्म है, उससे कला के उद्देश्य का कहीं विरोध नहीं, बल्कि दोनों का क्षेत्र भी एक है। इस संसार को सत्य का प्रकाश मान कर ही साधक धर्म के राज्य में और कलाविद् कला की दुनिया में अभिनव सृष्टि करते हैं। कई लोगों का खयाल है, कलाकार और धर्म-पिपासु के लिए यह जड़ जगत् सोपान स्वरूप है, परन्तु दोनों के आनन्द-लाभ का साधन अलग-अलग है। किन्तु यथार्थ में कला और धर्म व्यावहारिक उपयोगिता की दृष्टि से सांसारिक द्रव्यों का मूल्यांकन नहीं करता। इसमें अन्तर्दृष्टि की महिमा होती है। कला के लिए मूल्य प्राणों का है। रूप और आकार की स्वाभाविकता से कला-रसिकों का तुष्टि-विधान नहीं होता, वे चित्र और मूर्ति में प्राणों का स्पंदन ढूँढ़ते हैं। भारतीय कला-साधना में तो सदा से प्राणों की प्रतिष्ठा ही होती रही है। पाश्चात्य शिल्पियों ने चित्र और मूर्ति के लिये एनेटामी के सिद्धान्तों के आगे रूपहीन प्राण को

विरोधी था और ग्रीकोरोमन भाव उसका कट्टर हिमायती। पहले प्रतीक और रूपकों में इस धर्म की सङ्कीर्णता बहुत बढ़ गयी थी। बाद में बाइबिल तथा ईसा के जीवन की घटनाओं पर अनेकानेक पत्थर की मूर्तियाँ एवं कलापूर्ण चित्र बने, जिससे पैगान भाव विजयी बना। इसी पर खीष्ट धर्म की सफलता निहित है और इस शिल्प की अनुप्रेरणा से ही खीष्ट धर्म से हीब्रू धर्म का प्रभाव अलग हुआ।—"बट् प्लैस्टिक आर्ट ह्विच फार्म्स दि ट्रू ऐण्ड एसेनशियल ऑव सेपरेशन बिटविन् दि हिब्रू रिलीजन ऐण्ड दि क्रिश्चियन रिलीजन ऐट इट्स फर्स्ट ओरिजिन हैज नॉट बीन ब्रॉट इनटु फ़ील्ड ऐज एन आरगुमेंट टु गिव् वेट् टु द एविडेंस ऑव दि इन्फ्लुएन्सेज ऑव ग्रीको रोमन सिविलाइजेशन।" (३)

किन्तु उपर्युक्त उद्धरणों से धर्म और कला के सम्बन्ध का निराकरण नहीं हो सकता। धर्म को हम जीवन का आधार मानते रहे हैं और कला को जीवन के विश्राम-काल में मनो-विनोद का एक क्षणिक साधन। धर्म के नाम पर अनायास ही हमारे हृदय में एक भक्ति होती है। कला के नाम पर आकर्षण चाहे जितना ही अधिक क्यों न हो, भक्ति नहीं होती। इसलिये कि कला को हम धर्म की कोटि में तो नहीं ही रखते,

---

३. ग्रीक-रोमन सभ्यता के प्रभावों के अस्तित्व को पुष्ट करने के लिये कभी प्लैस्टिक आर्ट को तर्क क्षेत्र में नहीं लाया गया, यद्यपि हिब्रू धर्म और ईसाई धर्म के पार्थक्य का वस्तुतः वही कारण है।

वह जीवन के लिए अनिवार्य है, यह भी महसूस नहीं करते। परन्तु वास्तव में बात और है। साध्य और सिद्धि की दृष्टि से कला और धर्म समान धर्म वाले हैं। जरा दार्शनिकों की नजर से देखें, तो कला और धर्म एक ही वृन्त के दो फूल दिखायी देंगे। धर्म भी मानव की अनुभूति के रस से परिपुष्ट होता है, कला भी। बाह्य-जगत् के रस से दो में से किसी का परिपोषण नहीं हो सकता। दोनों की जन्मभूमि भी एक है। जिस प्रबल इच्छा-शक्ति पर जाति का ज्ञान और धर्म जीवन अवलम्बित हैं, सच्ची कला भी उसी शक्ति से उद्भूत होती है। धर्म का जो धर्म है, उससे कला के उद्देश्य का कहीं विरोध नहीं, बल्कि दोनों का क्षेत्र भी एक है। इस संसार को सत्य का प्रकाश मान कर ही साधक धर्म के राज्य में और कलाविद् कला की दुनिया में अभिनव सृष्टि करते हैं। कई लोगों का खयाल है, कलाकार और धर्म-पिपासु के लिए यह जड़ जगत् सोपान स्वरूप है, परन्तु दोनों के आनन्द-लाभ का साधन अलग-अलग है। किन्तु यथार्थ में कला और धर्म व्यावहारिक उपयोगिता की दृष्टि से सांसारिक द्रव्यों का मूल्यांकन नहीं करता। इसमें अन्तर्दृष्टि की महिमा होती है। कला के लिए मूल्य प्राणों का है। रूप और आकार की स्वाभाविकता से कला-रसिकों का तुष्टि-विधान नहीं होता, वे चित्र और मूर्ति में प्राणों का स्पदंन ढूँढ़ते हैं। भारतीय कला-साधना में तो सदा से प्राणों की प्रतिष्ठा ही होती रही है। पाश्चात्य शिल्पियों ने चित्र और मूर्ति के लिये एनेटामी के सिद्धान्तों के आगे रूपहीन प्राण को

विरोधी था और ग्रीकोरोमन भाव उसका कट्टर हिमायती। पहले प्रतीक और रूपकों में इस धर्म की सङ्कीर्णता बहुत बढ़ गयी थी। बाद में बाइबिल तथा ईसा के जीवन की घटनाओं पर अनेकानेक पत्थर की मूर्तियाँ एवं कलापूर्ण चित्र बने, जिससे पैगान भाव विजयी बना। इसी पर खीष्ट्र धर्म की सफलता निहित है और इस शिल्प की अनुप्रेरणा से ही खीष्ट्र धर्म से हीब्रू धर्म का प्रभाव अलग हुआ।—"बट् प्लैस्टिक आर्ट व्हिच फार्म्स दि ट्रू ऐण्ड एसेनशियल ऑव सेपरेशन बिटविन् दि हिब्रू रिलीजन ऐण्ड दि क्रिश्चियन रिलीजन ऐट इट्स फर्स्ट आरिजिन हैज नॉट बीन ब्रॉट इनटु फ़ील्ड ऐज एन आरगुमेंट टु गिव् वेट् टु द एविडेंस ऑव दि इन्फ्लुएन्सेज ऑव ग्रीको रोमन सिविलाइजेशन।" (२)

किन्तु उपर्युक्त उद्धरणों से धर्म और कला के सम्बन्ध का निराकरण नहीं हो सकता। धर्म को हम जीवन का आधार मानते रहे हैं और कला को जीवन के विश्राम-काल में मनो-विनोद का एक क्षणिक साधन। धर्म के नाम पर अनायास ही हमारे हृदय में एक भक्ति होती है। कला के नाम पर आकर्षण चाहे जितना ही अधिक क्यों न हो, भक्ति नहीं होती। इसलिये कि कला को हम धर्म की कोटि में तो नहीं ही रखते,

---

२. ग्रीक-रोमन सभ्यता के प्रभावों के अस्तित्व को पुष्ट करने के लिये कभी प्लैस्टिक आर्ट को तर्क क्षेत्र में नहीं लाया गया, यद्यपि हिब्रू धर्म और ईसाई धर्म के पार्थक्य का वस्तुतः वही कारण है।

वह जीवन के लिए अनिवार्य है, यह भी महसूस नहीं करते। परन्तु वास्तव में बात और है। साध्य और सिद्धि की दृष्टि से कला और धर्म समान धर्म वाले हैं। जरा दार्शनिकों की नजर से देखें, तो कला और धर्म एक ही वृन्त के दो फूल दिखायी देंगे। धर्म भी मानव की अनुभूति के रस से परिपुष्ट होता है, कला भी। बाह्य-जगत् के रस से दो में से किसी का परिपोषण नहीं हो सकता। दोनों की जन्मभूमि भी एक है। जिस प्रबल इच्छा-शक्ति पर जाति का ज्ञान और धर्म जीवन अवलम्बित हैं, सच्ची कला भी उसी शक्ति से उद्भूत होती है। धर्म का जो धर्म है, उससे कला के उद्देश्य का कहीं विरोध नहीं, बल्कि दोनों का क्षेत्र भी एक है। इस संसार को सत्य का प्रकाश मान कर ही साधक धर्म के राज्य में और कलाविद कला की दुनिया में अभिनव सृष्टि करते हैं। कई लोगों का खयाल है, कलाकार और धर्म-पिपासु के लिए यह जड़ जगत् सोपान स्वरूप है, परन्तु दोनों के आनन्द-लाभ का साधन अलग-अलग है। किन्तु यथार्थ में कला और धर्म व्यावहारिक उपयोगिता की दृष्टि से सांसारिक द्रव्यों का मूल्यांकन नहीं करता। इसमें अन्तर्दृष्टि की महिमा होती है। कला के लिए मूल्य प्राणों का है। रूप और आकार की स्वाभाविकता से कला-रसिकों का तुष्टि-विधान नहीं होता, वे चित्र और मूर्ति में प्राणों का स्पदंन ढूँढ़ते हैं। भारतीय कला-साधना में तो सदा से प्राणों की प्रतिष्ठा ही होती रही है। पाश्चात्य शिल्पियों ने चित्र और मूर्ति के लिये एनेटामी के सिद्धान्तों के आगे रूपहीन प्राण को

विरोधी था और ग्रीकोरोमन भाव उसका कट्टर हिमायती। पहले प्रतीक और रूपकों में इस धर्म की सङ्कीर्णता बहुत बढ़ गयी थी। बाद में बाइबिल तथा ईसा के जीवन की घटनाओं पर अनेकानेक पत्थर की मूर्तियाँ एवं कलापूर्ण चित्र बने, जिससे पैगान भाव विजयी बना। इसी पर खीष्ट धर्म की सफलता निहित है और इस शिल्प की अनुप्रेरणा से ही खीष्ट धर्म से हीब्रू धर्म का प्रभाव अलग हुआ।—"वट् प्लैस्टिक आर्ट व्हिच फार्म्स दि ट्रू ऐण्ड एसेनशियल ऑव सेपरेशन बिटविन् दि हिब्रू रिलीजन ऐण्ड दि क्रिश्चियन रिलीजन ऐट इट्स फर्स्ट आरिजिन हैज नॉट बीन ब्रॉट इनटु फील्ड ऐज एन आरगुमेंट टु गिव् वेट् टु द एविडेंस ऑव दि इन्फ्लुएन्सेज ऑव ग्रीको रोमन सिविलाइजेशन।" (२)

किन्तु उपर्युक्त उद्धरणों से धर्म और कला के सम्बन्ध का निराकरण नहीं हो सकता। धर्म को हम जीवन का आधार मानते रहे हैं और कला को जीवन के विश्राम-काल में मनो-विनोद का एक क्षणिक साधन। धर्म के नाम पर अनायास ही हमारे हृदय में एक भक्ति होती है। कला के नाम पर आकर्षण चाहे जितना ही अधिक क्यों न हो, भक्ति नहीं होती। इसलिये कि कला को हम धर्म की कोटि में तो नहीं ही रखते,

---

२. ग्रीक-रोमन सभ्यता के प्रभावों के अस्तित्व को पुष्ट करने के लिये कभी प्लैस्टिक आर्ट को तर्क क्षेत्र में नहीं लाया गया, यद्यपि हिब्रू धर्म और ईसाई धर्म के पार्थक्य का वस्तुतः वही कारण है।

वह जीवन के लिए अनिवार्य है, यह भी महसूस नहीं करते। परन्तु वास्तव में बात और है। साध्य और सिद्धि की दृष्टि से कला और धर्म समान धर्म वाले हैं। जरा दार्शनिकों की नजर से देखें, तो कला और धर्म एक ही वृन्त के दो फूल दिखायी देंगे। धर्म भी मानव की अनुभूति के रस से परिपुष्ट होता है, कला भी। बाह्य-जगत् के रस से दो में से किसी का परिपोषण नहीं हो सकता। दोनों की जन्मभूमि भी एक है। जिस प्रबल इच्छा-शक्ति पर जाति का ज्ञान और धर्म जीवन अवलम्बित हैं, सच्ची कला भी उसी शक्ति से उद्भूत होती है। धर्म का जो धर्म है, उससे कला के उद्देश्य का कहीं विरोध नहीं, बल्कि दोनों का क्षेत्र भी एक है। इस संसार को सत्य का प्रकाश मान कर ही साधक धर्म के राज्य में और कलाविद कला की दुनिया में अभिनव सृष्टि करते हैं। कई लोगों का खयाल है, कलाकार और धर्म-पिपासु के लिए यह जड़ जगत् सोपान स्वरूप है, परन्तु दोनों के आनन्द-लाभ का साधन अलग-अलग है। किन्तु यथार्थ में कला और धर्म व्यावहारिक उपयोगिता की दृष्टि से सांसारिक द्रव्यों का मूल्यांकन नहीं करता। इसमें अन्तर्दृष्टि की महिमा होती है। कला के लिए मूल्य प्राणों का है। रूप और आकार की स्वाभाविकता से कला-रसिकों का तुष्टि-विधान नहीं होता, वे चित्र और मूर्ति में प्राणों का स्पदंन ढूँढ़ते हैं। भारतीय कला-साधना में तो सदा से प्राणों की प्रतिष्ठा ही होती रही है। पाश्चात्य शिल्पियों ने चित्र और मूर्ति के लिये एनेटामी के सिद्धान्तों के आगे रूपहीन प्राण को

है—वह राजनीति से तिरस्कृत, युद्ध से वहिष्कृत, व्यवसाय से निर्वासित, दैनन्दिन व्यवहार से दूर नहीं है।"

धर्म पर ही हमारे जीवन की स्थिति है। 'धारणाद्धर्मभित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः। यह धर्म अगर न हो तो हमारा जीवन ही कुछ न हो। रोग के जैसे अनेक उपसर्ग होते हैं, धर्म के बाहरी आडम्बर बहुत बन गये हैं। उन आडंबरों में धर्म नहीं है। धर्म का सबसे बड़ा काम मनुष्य को मनुष्य बनाना और जीवन का कल्याण करना है। हममें धार्मिक जीवन के जितने सारे भेद हैं, वे आडम्बर के हैं। तत्वतः सभी धर्म समान हैं। मनु महाराज ने धर्म के दस लक्षण दिये हैं—ये दसों मानव-हृदय की वृत्तियां हैं। रङ्ग-रूप और आचार-विचार में देश और काल के अनुसार मानव मानव में भेद हो सकता है। वृत्तियों में मनुष्य एक हैं, यहां देश और काल का बन्धन नहीं। वृत्तियां भी दो तरह की होती हैं, कोमल और महान्। सभी देश, सभी काल के मनुष्यों में धर्म अच्छी वृत्तियों का उन्नयन एवं दुर्वृत्तियों का शमन करता हुआ जीवन को सुखी और सम्पन्न बनाता है। प्राचीन काल में भारत में चतुर्वर्गीय शिक्षा का प्रचलन था—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। धर्म की ही शिक्षा पहली थी, जिसमें शारीरिक, मानसिक और नैतिक योग्यता की प्राप्ति होती थी, जो जीवन की सुख-स्वच्छन्दता के लिये अनिवार्य था। संक्षेप में हम यों कह सकते हैं कि धर्म मनुष्य को मनुष्य बनाता हैं और मानव-मात्र को एक ही पावन सूत्र में पिरोता है।

धर्म का जो यथार्थ धर्म है, वही कला का है। विश्व-मानव के लिये धर्म और कला का कर्त्तव्य सब प्रकार से एक है। बल्कि बड़े विश्वास के साथ यह कहा जाता है कि विश्व-मानव के मिलन के जिस पवित्र तीर्थ का लोग सपना देखा करते हैं, उस-की प्रतिष्ठा केवल कला द्वारा ही सम्भव है। धर्म-पालन के अन्धे पागलपन ने संसार में आज तक जीवन के अनेक बड़े-बड़े यज्ञ किये, जिसमें असंख्य आत्माओं की आहुतियाँ पड़ीं। शान्ति और प्रेम के स्वर्गीय दूत ईसा के नाम पर आज तक जितने प्राणों का बलिदान हुआ है, उनकी संख्या बतायी नहीं जा सकती। साम्प्रदायिक विद्वेष के कारण आज जितने अनर्थ हो रहे हैं, वे प्रत्यक्ष हैं। बुद्ध और ईसा के, जो अहिंसा और प्रेम के प्रचारक थे, अनुयायियों द्वारा ही आज नर-बलि का इतना बड़ा यज्ञ अनुष्ठित हो रहा है। इससे हमारा यह अभि-प्राय कदापि नहीं कि धर्म निरुपयोगी और नाशक है, बल्कि यह कि धर्म के प्रति जो आस्था लोगों में है, वह अन्धी है। प्रकृत धर्म मनुष्यता का पोषक और उन्नायक है। मानव के उच्छृङ्खल वृत्ति-गयन्द के लिये धर्म ही अंकुश है—वह विराट् मानवता के निर्माण का यन्त्र है। कला-वृत्तियों में विद्वेष की यह भावना नहीं। पात्र-परिस्थिति की विभिन्नता कला में भेद की रेखा नहीं खींचती। कला की प्रत्येक महत् सृष्टि प्रत्येक मानव को समान स्नेह-सहानुभूति की अधिकारी है। रैफेल की मातृ-मूर्ति में महिमा का जो भाव है, भारत की बुद्ध मूर्ति में उसी महत् भाव का सन्निवेश है। शेक्सपियर की मिरंडा और

कालिदास की शकुन्तला देश और जाति में भिन्न हो सकती है, भावों की सीमा में एक है। यह श्रेय कला को ही प्राप्त है कि वह देश और काल के बन्धन को जीतकर सब की और सब युग की होती है। शकुन्तला को पढ़कर जर्मन मनीषी हेयर ड्रेयर ने कहा था—"डू यू नॉट विश विथ मी दैट इन्स्टेड ऑव दीज़ एण्डलेस रिलीजस बुक्स ऑव दि वेदाज़, उपवेदाज़ ऐटसेट्रा, दे उड् गिव अस दि मोर युजफुल ऐण्ड मोर एग्रीएबुल वर्क्स ऑव दि इण्डियन्स ऐण्ड स्पेशली देयर बेस्ट पोइट्री ऑव एवरी काइण्ड ? इट इज़ हियर दि माइण्ड ऐण्ड कैरेक्टर ऑव ए नेशन इज़ बेस्ट ब्रॉट टु लाइफ बिफोर अस, ऐण्ड आइ ग्लैड्ली ऐडमिट दैट आइ हैव रिसीव्ड ए ट्रूअर ऐण्ड मोर रीयल नेशन एबाउट एनसिऐण्ट इण्डियन्स फ्रॉम दिस वन् शकुन्तला दैन फ्रॉम ऑल देयर उपनिषद्स ऐण्ड भागवताज़।" (५)

धर्म में कला धर्म के समान है, किन्तु रोचकता कला का

५. क्या आप भी मेरी तरह यह न चाहेंगे कि अच्छा होता कि वे इन अन्तहीन वेद, उपनिषद आदि ग्रन्थों के बदले हमें भारतीयों का अधिक लाभदायक और वांछनीय साहित्य देते, विशेषतया उनका हर तरह का श्रेष्ठ कविता - साहित्य। कविता में किसी राष्ट्र की भावना और चरित्र का सजीव चित्र हमारे सामने उपस्थित हो जाता है और मैं सहर्ष यह स्वीकार करता हूँ कि प्राचीन भारतीयों के राष्ट्र का सत्य और वास्तविक चित्र उसके तमाम उपनिषदों और भागवतों की अपेक्षा कहीं अधिक सुन्दर एक शकुन्तला में मिलता है।

एक अतिरिक्त लाभ है। कला में एक विशेष आकर्षण है। उसके इस सौन्दर्य-प्रदर्शन को बाजारू नहीं कहा जा सकता, उसमें आत्मिक सौन्दर्य की सप्राणता और गम्भीरता होती है। मानव-मन को कला के आमन्त्रण में मनोरञ्जन ही नहीं मिलता, आत्मबल भी मिलता है। कई लोग कला की उपयोगिता के विरोधी हैं। विशुद्ध आनन्द दान के अतिरिक्त कला में और कुछ देखना उन्हें सह्य नहीं होता। किन्तु आनन्द जहाँ विशुद्ध है, वहाँ बहुत कुछ है। यों कला नीति-शास्त्र और उपदेश का पोथा जरूर नहीं, परन्तु नैतिक बल देनेवाली और मानव मात्र में समता की स्थापना करने वाली है। धर्म के समान ही कला मनुष्य मात्र की वस्तु है। महाकवि गेटे ने एक बार लूडने से कहा था—"कला और विज्ञान में मैं व्यथाजनक भाव से त्राण पाता हूँ, क्योंकि उनका सम्बन्ध समग्र संसार से है, उनके आगे राष्ट्रीयता की सङ्कीर्ण सीमा टूट जाती है।" और एक स्थान पर उसने लिखा है– 'इस सीधी-सी बात पर लोग विश्वास करना नहीं चाहते कि कला का महत् उद्देश्य उच्च भाव को विम्बित करना है।"

'कला कला के लिए' की जो चर्चा है, वह एक बात की बात है। कविता के लिए 'इट मीन्स इट सेल्फ' भी वैसी ही व्यर्थ की बात है। कला के उद्देश्य के लिये आज यह पंक्ति सूत्र-रूप में कुछ लोगों द्वारा कही जाती है। किन्तु जिसने अनायास कभी इस बात को कह दिया था, स्वयं उसका यह आशय न था। एक बार कई मित्रों में बैठकर विक्टर ह्यूगो वाल्तेयर के

दुःखान्त नाटकों की चर्चा कर रहा था। एकाएक उसने मजाक से कहा—ट्रेजिडी असल में नाटक नहीं, उसमें जीवंत मनुष्य नहीं, सिर्फ सूखे और थोथे उपदेश हैं। इससे तो 'आर्ट फॉर आर्ट्स सेक' अच्छा है। स्वयं यूगो ने इसके लिए दुःख प्रकट किया था कि "एक दिन महज मजाक में मैंने जो बात कही थी, दुःख है कि आज वह साहित्यिक आदर्श के रूप में व्यवहृत होने लगी है।"

कला उद्देश्यहीन नहीं, उसका उद्देश्य है और वह है मनुष्यता की प्रतिष्ठा, विश्व-मानव में प्रेम के सम्बन्ध की स्थापना। प्रोटागोरस ने कहा है—मनुष्य सत्य का स्टैण्डर्ड है। कला का आधार वही मनुष्य है। टाल्सटाय ने माना है—"कला समभाव के प्रचार द्वारा विश्व-संसार को एक करने का साधन है।" मनुष्य की महत्ता और कोमलता, इन दो आवश्यक गुणों का विस्तार तथा सन्मार्ग की ओर उन्मुख करना ही कला का ध्येय है। मनुष्यत्व प्रेम से है और प्रेम में कला का बीज है। मनुष्य की लालसा जब उद्दाम होती है, तो प्रेम ही उसे संयत कर सकता है, क्योंकि उसमें त्याग की महिमा होती है। कला मानव-प्रेम का प्रचारक है, मनुष्य में जो भगवान् है, उसकी महिमा की प्रतिष्ठा करने वाली है।

किसी भी जाति, किसी भी देश की महान् कला-कृतियों को हम लें, उनमें आदर्श चरित्रों की सृष्टि पायेंगे, जो सामाजिक जीवन में मनुष्य को प्रकाश-स्तम्भ का, ध्रुवतारा का काम देते हैं। होमर के 'इलियड' में, वाल्मीकि की 'रामायण' में व्यास के

'महाभारत' में हम ऐसे ही आदर्श-चरित्र पाते हैं, जो युग-युग से लोगों को प्रेरणा और गति दे रहे हैं। होमर की कविता के मैथ्यू आर्नल्ड ने जो तीन बड़े गुण बताये हैं, उनमें एक भावों की उच्चता भी है, जिससे मनुष्य पशुत्व से देवत्व में उन्नीत हो सकता है। वाल्मीकि की 'रामयण' के लिए श्री अरविन्द घोष ने लगभग यही बात बतायी है कि शारीरिक और मानसिक शक्तियों के सदुपयोग द्वारा मानव देवता तथा धरती स्वर्ग कैसे बन सकती है, रामायण में यह दिखाया गया है। महाभारत में भी भौतिक शक्ति की हेयता दिखायी गयी है। संगीत, मूर्ति और चित्रों की भी यही बात है।

अब एक और अन्तिम बात कह कर हम लेख को समाप्त करेंगे। धर्म की एक और देन है, अनन्त और ईश्वर का ज्ञान। यह सत्य यद्यपि प्रत्यक्ष नहीं, किन्तु विश्वसनीय है। आदिम युग से ही मनुष्य में ईश्वर की, पाप-पुण्य की, परलोक की धारणा घर कर चुकी थी। यह अदृश्य की आस्था भी मनुष्य का एक स्वाभाविक गुण है। मैक्समूलर साहब ने भी इसे स्वीकार किया है कि अनन्त की धारणा किसी धर्म-विशेष की ही वस्तु नहीं, यह सभी धर्मों में समान रूप से मौजूद है। इन्द्रियगोचर और ससीम सत्य के अनुसन्धान में ज्ञान तत्पर रहता है, उसी प्रकार हमारा विश्वास अनन्त की आकांक्षा से आकुल है। धर्म सिर्फ ईश्वर का ज्ञान देकर ही मौन नहीं, ईश्वर की प्राप्ति भी उसकी प्रधान साधना है। जहाँ तक ज्ञान की बात है, वहाँ तक देश-जाति में धर्म का स्वरूप एक है।

जब ईश्वर को प्राप्त करने की बात आती है, तब उपासना और साधना के रूप बदल जाते हैं। मन्दिर, मस्जिद और गिरजा ईश्वर के ज्ञान के परिणाम नहीं, ईश्वर की प्राप्ति के साधन रूप में बने हैं। विभिन्न मत, तरह-तरह के उपाय ईश्वर-प्राप्ति के लिए बने हैं। इसी से अनेक सम्प्रदाय हैं, उनके भिन्न-भिन्न आचार-विचार हैं। यहीं धर्म की व्यापकता कुण्ठित हो गयी है। कला में किन्तु यह कुण्ठा नहीं आ पायी। कला की भी सिद्धि वही पूर्णता है। अपरिपूर्ण मानव की गति पूर्णता की ओर है, उसका लक्ष्य परमात्मा है, वह लोक की व्यस्तता में परलोक को नहीं भूलता। यह आकांक्षा, यह भूख मानव की जन्मजात है। उसके जीवन की प्रियतम प्रचेष्टा ईश्वर की प्राप्ति है। मनुष्य की गौरव-सृष्टि कला भी उसके जीवन की इस आकांक्षा की परिपूर्ति में प्रतिनियत संलग्न है। धर्म की तरह मनुष्य को अनन्त सत्य की ओर ले जाना कला की साधना है। ज्ञान, इच्छा और प्रेम ही मानव जीवन है—सत्य शिव और सुन्दर ही उस अनन्त सत्य का स्वरूप है। इसलिये कला का लक्ष्य भी सत्य, शिव और सुन्दर है। सत्य ज्ञान का विषय है, सत्य अनन्त है, सो ज्ञान कभी तृप्त नहीं होता। इच्छा अपूर्णता की द्योतिका है। आदमी में इच्छायें हैं, इसीलिए वह कर्मतत्पर है। कर्म में कल्याण है, जो शिव का रूप है। यह भी दुष्कर है। प्रेम सौन्दर्य के फूल पर फलने वाला फल है। कला इसी की पुजारिन है। यह ब्रह्म की उपासना करती है रूप द्वारा। मूर्ति, चित्र द्वारा रंग और

मर्मर में बांध कर अथवा साहित्य-संगीत द्वारा स्वर और भाषा में रूपायित करके। असीम को सीमा में सोचना अथवा निर्गुण अरूप को आकार में बाँधने का प्रयास उसे सीमाबद्ध करना नहीं है, उससे नैकट्य और उसमें चञ्चल मन को एकाग्र करना है। कागज में मुहर की ही कीमत होती है, उसी से वह नोट के रूप में चलता है।, पत्थर की मूर्ति में हम अपनी ही श्रद्धा-भावना को प्रतिष्ठित कर पूजते हैं। मूर्ति में पत्थर की नहीं, भावना का मूल्य है। भावना ही उस पत्थर को प्राणवंत बना देती है। कला इसी सौन्दर्य की उपासक है, जिस सौन्दर्य से रस और आनन्द जो उसी का रूप है प्रकट होता है। वैष्णव कवियों ने इसीलिए ईश्वर को सुन्दर रूप में साकार किया और प्रेम द्वारा उसे पाने की साधना की। यों मनुष्य कर्म-शक्ति का उपासक है, जिसकी परिणति क्रम से भक्ति और ज्ञान में होती है और यहीं सत्य, शिव और सुन्दर का समन्वय होता है। यहीं मनुष्य का दर्शन, धर्म और कला एकाकार हो जाते हैं। 'रवीन्द्रनाथ का दर्शन' पर लिखते हुए राधाकृष्णन ने लिखा है—"आर्ट, फिलासफी ऐण्ड रिलीजन आर दि सोशलाइज्ड मोड्स इन व्हिच दि एब्सोल्यूट प्रेजेण्ट्स इट्सेल्फ टु मेनकाइण्ड। गॉड इज ए ट्रिनिटी, बिकाउज़ मैन इज। दि ह्यूमैन इनडिविडुएल इज ए यूनिटी ऑव इनटेलेक्ट, इमोशन ऐण्ड विल, ऐण्ड दि सुप्रीम आइडियल, टु सैटिसफाइ सेंटिमेंट, विल ऐण्ड रीजन, एपीयर्स ऐज़ सुप्रीम ब्यूटी, सुप्रीम गुड, सुप्रीम ट्रूथ। .... दि कनटेन्ट्स ऑव दि थ्री द्रू नॉट

वैरी, दो देयर फ़ार्म्स डज़। आर्ट, फिलासफी ऐण्ड रिलीजन आर डिफरेंट, फॉर्म्स ऐण्ड एक्सप्रेसन्श ऑव वर्शिप ऐण्ड डिफरेंट वेज़ ऑव एप्रोच टु गाड।" (६)

अतएव कला की साधना और कला की सिद्धि वही है, जो धर्म की है। टाल्सटाय के शब्दों में हम कला के उद्देश्य और मानव-जीवन के लक्ष्य को दुहरा लें कि–"कला को बुद्धि से भाव की ओर अग्रसर कर विश्व-मानव को एक करना होगा। प्रचलित पद्धति और अत्याचार-समूह का नाश कर संसार में प्रेम का, भगवान् का राज्य करना होगा—यही मानव-जीवन का चरम लक्ष्य है।"

---

६. कला, दर्शन और धर्म के सामाजिक रूप द्वारा स्वयं परमात्मा अपने को मानव के समक्ष उपस्थित करता है। भगवान् का त्रिदेवत्व मनुष्य से चरितार्थ होता है। मानव का व्यक्तित्व बुद्धि, हृदयावेग और इच्छा का एकाकार रूप है और भावुकता, इच्छा एवं तर्क को सन्तुष्ट करने का उच्च आदर्श सत्य, शिव और सुन्दर है। इन तीनों का तत्व एक दूसरे से भिन्न नहीं है, यद्यपि स्वरूप में भिन्नता है। कला, दर्शन और धर्म पूजा के विभिन्न स्वरूप और भाव है तथा भगवान् के सन्निकट पहुँचने के विभिन्न मार्ग हैं।

रूप-शिल्प की दूसरी दिशा

रूप-शिल्प से हमारा तात्पर्य चित्र, मूर्ति एवं वास्तु-विद्या से है। ये भी काव्य और संगीत के भाई-बन्धु हैं तथा ललित कलाओं के अन्तर्गत हैं। कला के भारतीय श्रेणि-विभाजन के अनुसार प्रतिमा-कला तक्षण-शिल्प के अन्तर्गत है। तक्षण-शिल्प के चार अंग माने गये हैं—गुफा, मन्दिर, स्तंभ और मूर्ति। आज के वर्गीकरण के मुताबिक एक मूर्ति-कला को छोड़कर तक्षण के अन्य तीन अंग (गुफा, मन्दिर, स्तंभ) वास्तु-कला के विषय हो जाते हैं। आज तो कला के पाँच प्रमुख पाये में से मूर्ति का अपना अलग ही अस्तित्व है।

काव्य एवं संगीत से रूप-शिल्प का रूपगत भेद चाहे जितना हो, धर्मगत एकता है। यों बहुतेरे विवेचकों ने आधार की स्थूलता और सूक्ष्मता को देखते हुए ललित-कलाओं में भी उच्च एवं निम्न कोटि निर्धारित की है। उनकी राय में भाव को व्यक्त करने का आधार जितना ही सूक्ष्म हो, वह कला उतनी ही श्रेष्ठ है। आधार की स्थूलता कला के वंश-गौरव को कुछ क्षुण्ण करता है। इस दृष्टि से संगीत सर्वोपरि श्रेष्ठ कला है; क्योंकि उसे स्वर के अतिरिक्त मोटे मूर्त्त आधार की आवश्यकता नहीं होती। काव्य को फिर भी शब्द का सहारा लेना पड़ता है और चित्र, मूर्ति और वास्तु क्रम से नीचे हैं।

इस सामाजिक बंटवारे के औचित्य या अनौचित्य पर प्रकाश डालना यहाँ अभीष्ट नहीं, यह विषयांतर होगा। हम यह कहेंगे कि कला परिवार में ब्राह्मण-शूद्र का प्रश्न महत्व नहीं रखता। जाति-बन्धनों से जर्जर समाज में भी मनुष्यता ही जिस प्रकार मनुष्य की सर्वोपरि कसौटी है, कला के लिए भी उद्देश्य की महत्ता ही मुख्य बात है। और सच तो यह है कि ललित कला मात्र की मर्मवाणी एक है।

श्रेष्ठ कलालोचक इस बात में लगभग एकमत हैं कि सत्य के स्वरूप को रूप देनेवालों एवं महत् प्रेरणाओं से अनुप्राणित कला ही वास्तव में कला है। जिसका पर्यवसान सिर्फ भोग में है, जिससे परमतत्व का संकेत नहीं मिलता, वह कला ही नहीं है।

विश्रांतिर्यस्य सम्भोगे सा कला न कला मता।
लोचते परमानन्दे ययात्मा सा परा कला॥

रूप-शिल्प, जिसे उपर्युक्त दृष्टिकोण के अनुसार निम्न श्रेणी में रखा गया है, कला के इस महत् उद्देश्य की रक्षा नहीं करता, ऐसी बात नहीं। कवि कीट्स ने मिट्टी के पात्र में शिल्प नैपुण्य का नमूना देखकर उस अमर रचना की प्रेरणा पायी, जो सौंदर्य विवेचकों के लिये मंत्ररूप है—'ब्यूटी इज ट्रूथ, ट्रूथ इज ब्यूटी'। वास्तव में कला का विचार पात्र या आधार से तो होता नहीं, पात्रगत आधेय से होता है। इसलिए गायक का स्वर, कवि की वाणी, शिल्पी की तूलिका भास्कर की छेनी, सब कलाकार की प्रतिभा, उसकी सहृदयता

के अनुरूप ही धन्य होती है। उस अलौकिक अमूर्त को गायक कंठ से, कवि वाणी से और शिल्पी तूलिका या छेनी से रूपायित करता है। उपादान से कला धन्य नहीं होती, होती है कलाकार के नैपुण्य, उसकी अंतर्दृष्टि एवं प्रतिभा से। ऐसे तो सृष्टि में भाव और अमूर्त सत्य के रूप सर्वत्र बिखरे हैं, किन्तु कितने लोग उन्हें हृदयंगम कर लेते हैं, या जो हृदयंगम कर लेते हैं, उनमें से कितने आदमी उन्हें सफलतापूर्वक व्यक्त कर पाते हैं? प्रसिद्ध चित्रकार माइकेल ऐंजेलों कहा करता था—"पत्थर के हर टुकड़े में मूर्ति है। भास्कर उसके अनावश्यक अंशों को तरासकर उस मूर्ति को प्रकाश में ला देता है, जो लोकचक्षु के अंतराल में है।" कविगुरु रवीन्द्रनाथ ने कविता, श्रेष्ठ औपन्यासिक बंकिमचंन्द्र ने कथा के लिये ठीक यही बात कही है कि उच्चकोटि की कला के उपादान सर्वत्र भरे पड़े हैं। आवश्यकता है उन भावों के मालाकार की और ततोधिक मालाकारिता की कुशलता की।

सारांश यह कि रूप-शिल्प में महानता का अभाव नहीं होता। महान् शिल्पी चाहिए। बन्दर के हाथ में शालिग्राम ही दीजिए तो क्या? काव्य-प्रतिभा का अभाव हो, या काव्य और कुशलता की कमी हो, तो संगीत से भी ब्रह्मानन्द की प्राप्ति नहीं होती। सभी महाभारत और रामायण नहीं लिख जाते, उसी प्रकार बहुतेरे शिल्पी ताजमहल, मातृ-मूर्ति आदि से रामायण महाभारत जैसी अमर रचनाएँ भी कर जाते हैं, जो काल के भाल पर एक अमिट स्मृति-चिन्दु की तरह अंकित

रहती हैं। इसलिये रूप-शिल्प में भी उतनी ही महिमा है, जितनी काव्य और संगीत में। संसार के मनीषियों ने इसे स्वीकार किया है और उसके धार्मिक संस्कारों के साथ कला पल्लवित होती रही है। एक इस्लामी सभ्यता ने ही रूप-शिल्प को नहीं आश्रय दिया, गो कि कुरान में चित्र के विरुद्ध कोई चर्चा नहीं। संस्कृत ग्रन्थों में ईश्वर को जिस प्रकार कवि और कलाकार कहा गया है, उसी प्रकार कुरानशरीफ में अल्लाह को मुसव्वर यानी चित्रकार कहा गया है। अलबत्ता प्रतिमा-कला को कुरान में शैतान का काम कहा गया है और मुसलमानों को उससे परहेज की सलाह दी गयी है। 'हदीस' में चित्रकारी के लिए मुमानियत है। ऐसा कहा गया है कि चित्रकार को कयामत के दिन घोर नरक में स्थान मिलेगा; क्योंकि यह ईश्वर के विरुद्ध कार्य है। जहाँ चित्र हैं, वहाँ देवता हरगिज नहीं रह सकते। यही कारण है कि शुरू से मुस्लिम जनता कला-विकास के लिए प्रयत्नशील नहीं रही, वल्कि समय-समय पर उसने उसके सत्यानाश के लिये कुछ उठा नहीं रखा। वहुत बार उसने शिल्प-संभारों का विनाश किया। कहा जाता है, वादशाही अमल की बनी हुई अनेक तस्वीरों को लीप-पोतकर बराबर कर दिया गया। और तो और, अकबर के समय के 'हमूजनामे' की लगभग सारी तस्वीरों के चेहरे पोत दिये गये। 'रज़्मनामा' (महाभारत का सचित्र अनुवाद) किसी-किसी तरह उनके हाथ से बच गया। इतिहास में परशुराम के क्षत्रिय-विनाश की तरह उनके कला-नाश के अनेक सबूत और किस्से

लिखे हैं। इतने पर भी मुस्लिम संप्रदाय में कला के पुजारी हुए। मुगल-काल में भारत का रूप-शिल्प काफी उन्नत हुआ। विशेषतया अकबर (बकौल ऐतिहासिक अबुल फजल) चित्र-कला को मुक्ति एवं ईश्वर से साक्षात्कार का एक प्रधान आधार समझता था।

विचारकों ने कला की अन्तःवाणी उसके उन्नत आदर्श की महत्ता समझी। किन्तु हमारी समझ से तस्वीर के दो रुख की तरह शिल्प की एक दूसरी दिशा भी है। जब तक उसको भी स्वीकार न किया जाय, हमारी समझ से तब तक वस्तु की सम्पूर्णता की उपलब्धि नहीं हो सकती। केवल उसके महत् उद्देश्य के गीत गाने से उसकी एकांगिता का ही प्रमाण मिलता है। कला महत् है, उसके उद्देश्य पावन और उन्नत हैं, वह हमें लौकिकता की शृंखला से, प्राकृतिक दासता की दीनता से ऊपर उठाकर चिरंतन सत्य की ओर उन्मुख करती है, यह सब कुछ सही है; पर इतना ही सब कुछ नहीं है। कला इसके अतिरिक्त भी कुछ है। उसके आध्यात्मिक पक्ष के साथ उसके लौकिक पक्ष को जानकर ही उसकी सम्पूर्णता को प्राप्त किया जा सकता है। कला की आध्यात्मिकता उसके भाव में और लौकिकता उस भाव के व्यक्तीकरण के लिए व्यवहृत आधार में होता है। मात्र प्राण से प्राणी का पूरा परिचय नहीं मिलता; उसकी विशेष आकृति, जिस में प्राण बसते हैं, को भी जानना चाहिये। भाव के लिए भाषा और इंगित को त्याज्य या तुच्छ नहीं कहा जा सकता। श्रेष्ठ कला-रचना में हम दो गुण पाते

हैं। एक कि वह देश, काल और पात्र से परे होती है और दूसरी कि वह चिर-युगीन हो कर भी युगविशेष के धर्म का संकेत करती है। अर्थात् यों कहिये कि कला में युगातिगतता तो होती है, युगानुगतता भी होती है। इसका एक स्वाभाविक कारण है। शाश्वत सत्य को ओर प्रेरित करनेवाली भावना भी अपनी अभिव्यक्ति के लिये आधार चाहती है। इस आधार में यानी उसके स्थूल रूप में कला-रचना के युग-विशेष के धर्म एवं संस्कार का भी संकेत मिला रहता है। महत् रचना में कलाकार का गौरव बेशक बहुत बड़ा है कि वह अपनी रचना को चिरकालिक तथा सर्वदेशीय कर देता है, किन्तु उसकी यह विवशता भी उतनी ही दयनीय है कि उसकी रचना स्वर्ग तक सिर उठाती है और उसके पाँव धरातल पर रोपे रह जाते हैं। कलाकार की अज्ञानता में ही उसकी सृष्टि स्वर्गीय भाव के साथ धरती के काल और संस्कार को बाँधकर रख देती है। इसलिये कला की दो दिशाएँ हो जाती हैं—एक सूक्ष्म, जो हमें शाश्वत सत्य की महिमा से आनन्दित करती है, दूसरी स्थूल, जिसके द्वारा हम उसके सृष्टि-काल के संस्कार, पारिपार्श्विक अवस्था एवं ऐसी ही अन्य बातों का परिचय पाते हैं। पहली है कला की आध्यात्मिकता—उसका प्राण तथा दूसरी है कला का पार्थिव आधार— उसका ऐतिहासिक संकेत। फलस्वरूप शिल्प केवल आनन्द का ही विषय नहीं रह जाता, वह ज्ञान की भी वस्तु है। इसीलिए राष्ट्र और जाति के ज्ञान-भण्डार में वह युग-युग तक रक्षित रखी जाती है। 'ताजमहल' को

रवीन्द्रनाथ ने प्रेम का महाकाव्य कहा है और कहा है, काल के प्रभूत पराक्रम को जीत कर, मृत्यु के उत्थान-पतन को तुच्छ करके यह युग-युग तक विरहिणी की वाणी को प्रचारित कर रहा है।

इससे हमारा यह तात्पर्य कदापि नहीं कि कला की भौतिकता ही सब कुछ है। हम तो महज यह कहना चाहते हैं कि वह भी कला का एक अपरिहार्य अंग है एवं उसकी उपलब्धि के बिना कला-ज्ञान पूर्ण नहीं होता। उससे एक बड़ा लाभ यह भी है कि अपूर्ण मानवेतिहास को उससे एक सहारा मिलता है। उसमें इतनी अधिक ऐतिहासिक सामग्री मिलती है कि हमें आश्चर्यचकित होना पड़ता है। वास्तव में 'ब्रह्मानन्द-सहोदर' के अतिरिक्त इस दृष्टि से कला की उपयोगिता का हमने वैसा आदर नहीं किया, जैसा कि हमें करना चाहिए था। यह हमारी राष्ट्रीय क्षति है। श्री सुनीति-कुमार चटर्जी ने एक जगह लिखा है कि पेरिस के एक शिल्प-संग्रहालय में कला, संगीत और ज्ञान के देवता एपोलो की विराट् मूर्ति के मस्तक पर ये पंक्तियाँ खुदी हुई हैं—

"मैं समाधि रूप रहूँगा अथवा रत्न-भण्डार होकर, यह उन लोगों पर निर्भर रहता है, जो इस होकर गुजरते हैं। मित्र, यह तुमपर मुनहसर है। कोई कामना किये बिना इधर से मत आना।"

इन पंक्तियों में कला-कृतियों की उपयोगिता का स्पष्ट निर्देश है। धरती ने अपनी आत्म-कहानी अपनी ही गोद में सँजोकर

रखी। मानव ने अपनी कला-रचना द्वारा अपनी संस्कृति, अपनी परिस्थितियों का इतिहास आगामी मानव समुदाय के लिए सुरक्षित कर दिया। अब यह आगामी कल के मानव पर अवलम्बित है कि वह उसे किस रूप में देखे! वास्तव में रूप-शिल्प में हमारे अतीत इतिहास के अनेक अज्ञात पृष्ठ हैं, बशर्ते कि हम उसे केवल आध्यात्मिक भूख के लिये ही न टटोलें। पार्थिवता की दृष्टि से शिल्प वैसा ही एक मानव-विज्ञान है, जैसा अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र या समाजशास्त्र। दुःख है कि कला की इस उपयोगी दिशा की आज तक विवेचकों ने उपेक्षा की है। अगर ऐसा नहीं होता, तो हमारे प्राचीन इतिहास की अनेक जटिल ग्रन्थियाँ सुलझ सकती थीं। मोहेंजोदड़ो, हरप्पा, एलोरा, अजन्ता आदि के गंभीर अध्ययन से इतिहासकारों को तत्कालीन समाज की रूपरेखा तैयार करने में आशातीत सफलता मिली है। अभी भी बहुतेरी कला-कृतियाँ अन्धकार में हैं, जिनसे इतिहास के अनेक अस्पष्ट अध्याय प्रकट होंगे और असम्भव नहीं कि इतिहास की धारा कहीं मुड़ जाय। साहित्य को समाज का दर्पण कहा गया है, इसलिये कि साहित्यकार अपने युग के विषय और वस्तुओं पर ही महल खड़ा करता है। शिल्प भी वैसा ही दर्पण है। हाँ, वह मात्र निर्जीव प्रतिविम्ब नहीं रखता।

इस सत्य को सभी स्वीकार करेंगे कि इतिहास की जो हड्डी-पसली आज तैयार है, उसके निर्माण में शिल्प का बहुत बड़ा हाथ है। मानव-सभ्यता का इतिहास उपलब्ध कला-कृतियों

के आधार पर ही सुगमता से तैयार किया जा सका। प्राचीन युग में परंपरागत इतिहास लिपिबद्ध करके रख जाने की वैसी प्रथा नहीं थी। किन्तु उस समय के शिल्प से यह बात इतनी सुगम हो गई कि बेचारे शिल्पियों ने सोचा भी नहीं होगा कि अपने युग को वे भविष्य के लिए इतना दृढ़ और प्रत्यक्ष कर जाते हैं। मुगल-काल की दो बातें उदाहरणार्थ लीजिए। सोलहवीं सदी के अंत के बने जितने चित्र मिलते हैं, उनमें दाढ़ी नहीं है। इसका कारण यह था कि जलालुद्दीन अकबर ने १५९१ में यह आज्ञा की थी कि दरबारियों को दाढ़ी नहीं रखनी होगी। जहाँगीर ने अपने दरबारियों को एक बार बाली पहनने की आज्ञा दी थी और हम देखते हैं कि जहाँगीर के समय के चित्रों में कानों में बालियाँ हैं। इस तरह चित्रों में इतिहास के मसाले हैं। भारत जैसे प्राचीन सभ्य देश की शिल्प-वस्तुओं का यदि इस दृष्टि से विशेष पर्यवेक्षण हो, तो अनेक रहस्यों का उद्‌घाटन हो। विदेशों में इस बात का प्रयोजन सब बहुत पहले से ही समझने लगे कि इतिहास का अध्ययन तब तक अधूरा है, जब तक कि तत्कालीन शिल्प का भी अध्ययन उसके साथ न हो। युग विशेष के इतिहास के ज्ञान की पूर्णता के लिए समकालीन शिल्प-वस्तुओं का अध्ययन भी आवश्यक है। इसलिये वहाँ शिल्प - अध्येताओं को समकालीन इतिहास एवं इतिहास अध्ययन करने वालों को समसामयिक शिल्प-वस्तुओं का अनिवार्य अध्ययन करना पड़ता है एवं उनकी पुस्तकें भी उसी रूप से चित्र-सज्जित की गयी हैं,

जिनमें विषयानुकूल शिल्प निदर्शनों को दे दिया गया है। शिक्षा की इस पद्धति से वहाँ बड़ा सुफल मिला है। भारत में इसकी नितांत कमी है। एक तो यहाँ शिल्प-चर्चा ही अभी उतनी लोकप्रिय नहीं हो सकी है, फिर शिक्षा के साथ इसे अभी दूध-पानी की तरह मिलाया नहीं जा सका है! यहाँ के शिल्प का इतिहास वृहद् एवं गौरवमय है और उसके सहारे भारत के इतिहास का अध्ययन अधिक फलप्रद हो सकता है। यहाँ शिल्प का एक-एक गौरवमय युग है, उसकी अपनी धारा, अपनी विशेषता है, जिसके अध्ययन की आवश्यकता है।

शिल्प-वस्तुओं की सहायता से ऐतिहासिक तथ्यों का निरूपण बड़ा ही युक्ति-युक्त एवं वैज्ञानिक हुआ करता है। इतिहास के अनेक तथ्यों को इसी के सहारे प्रकाश में लाया भी जा चुका है। मिस्र और बेबिलोन की प्राचीन सभ्यता आकाशवाणी द्वारा नहीं जानी गयी थी, वहाँ के प्राचीन शिल्प से ही वह प्रत्यक्ष हुई। मोहेंजोदड़ो की खुदाई से प्राचीन सिन्धु-सभ्यता पर प्रकाश पड़ा, गोकि उसे ही पूर्ण नहीं कहा जा सकता। इतना जरूर है कि प्राचीन इतिहास के वास्तविक विवरण के लिए शिल्प-संभारों की सहायता के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है। फलतः हमारी शिक्षा में इस विषय का अनिवार्य समावेश होना चाहिए।

श्री सुनीतिकुमार चटर्जी की राय में शिल्प द्वारा भारतीय इतिहास के अनेक वास्तविक तथ्य-निरूपण की प्रथम चेष्टा राजा राजेन्द्र लाल मित्र ने की। उनके 'एंटिक्विटीज

ऑव उड़ीसा' तथा 'इण्डो आर्यन्स' इसके प्रमाण हैं। ग्रिफिथ साहब की 'अजन्ता' और एल० डी० बर्नेट का 'ऐंटिकिटीज ऑव इण्डिया' ऐसी ही स्तुत्य चेष्टाएँ हैं। सबसे बढ़कर तो इस दिशा में काम कुमार स्वामी ने किया है। उन्होंने शिल्प और साहित्य के द्वारा प्राचीन भारत की चिन्ताधारा का बड़ा वैज्ञानिक परिचय दिया है। राय कृष्णदास जी ने अकबर-कालीन हिन्दू पहनावे पर तत्कालीन चित्रों द्वारा महत्व का प्रकाश डाला है। हरमन गोत्ज़ ने भी चित्रों से भारतीय पोशाकों के बारे में प्रामाणिक निर्णय दिये हैं। श्री नानालाल चमनलाल शाह ने भी इस दिशा में बहुत कुछ किया है। किन्तु फिर भी कला की यह उपयोगी दिशा उपेक्षित है। यथार्थ में तो इसकी उपयोगिता तब बढ़ सकेगी, जब इसे वर्त्तमान शिक्षा का अंग बना दिया जायगा और तभी कला का रसास्वादन पूर्ण और उपयोगी हो सकेगा।

जिनमें विषयानुकूल शिल्प निदर्शनों को दे दिया गया है। शिक्षा की इस पद्धति से वहाँ बड़ा सुफल मिला है। भारत में इसकी नितांत कमी है। एक तो यहाँ शिल्प-चर्चा ही अभी उतनी लोकप्रिय नहीं हो सकी है, फिर शिक्षा के साथ इसे अभी दूध-पानी की तरह मिलाया नहीं जा सका है! यहाँ के शिल्प का इतिहास वृहद् एवं गौरवमय है और उसके सहारे भारत के इतिहास का अध्ययन अधिक फलप्रद हो सकता है। यहाँ शिल्प का एक-एक गौरवमय युग है, उसकी अपनी धारा, अपनी विशेषता है, जिसके अध्ययन की आवश्यकता है।

शिल्प-वस्तुओं की सहायता से ऐतिहासिक तथ्यों का निरूपण बड़ा ही युक्ति-युक्त एवं वैज्ञानिक हुआ करता है। इतिहास के अनेक तथ्यों को इसी के सहारे प्रकाश में लाया भी जा चुका है। मिस्र और बेबिलोन की प्राचीन सभ्यता आकाशवाणी द्वारा नहीं जानी गयी थी, वहाँ के प्राचीन शिल्प से ही वह प्रत्यक्ष हुई। मोहेंजोदड़ो की खुदाई से प्राचीन सिन्धु-सभ्यता पर प्रकाश पड़ा, गोकि उसे ही पूर्ण नहीं कहा जा सकता। इतना जरूर है कि प्राचीन इतिहास के वास्तविक विवरण के लिए शिल्प-संभारों की सहायता के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है। फलतः हमारी शिक्षा में इस विषय का अनिवार्य समावेश होना चाहिए।

श्री सुनीतिकुमार चटर्जी की राय में शिल्प द्वारा भारतीय इतिहास के अनेक वास्तविक तथ्य-निरूपण की प्रथम चेष्टा राजा राजेन्द्र लाल मित्र ने की। उनके 'एंटिक्विटीज

ऑव उड़ीसा' तथा 'इण्डो आर्यन्स' इसके प्रमाण हैं। ग्रिफिथ साहब की 'अजन्ता' और एल० डी० वर्नेट का 'एंटिक्विटीज ऑव इण्डिया' ऐसी ही स्तुत्य चेष्टाएँ हैं। सबसे बढ़कर तो इस दिशा में काम कुमार स्वामी ने किया है। उन्होंने शिल्प और साहित्य के द्वारा प्राचीन भारत की चिन्ताधारा का बड़ा वैज्ञानिक परिचय दिया है। राय कृष्णदास जी ने अकबर-कालीन हिन्दू पहनावे पर तत्कालीन चित्रों द्वारा महत्व का प्रकाश डाला है। हरमन गोतूज ने भी चित्रों से भारतीय पोशाकों के बारे में प्रामाणिक निर्णय दिये हैं। श्री नानालाल चमनलाल शाह ने भी इस दिशा में बहुत कुछ किया है। किन्तु फिर भी कला की यह उपयोगी दिशा उपेक्षित है। यथार्थ में तो इसकी उपयोगिता तब बढ़ सकेगी, जब इसे वर्त्तमान शिक्षा का अंग बना दिया जायगा और तभी कला का रसास्वादन पूर्ण और उपयोगी हो सकेगा।

जन-साहित्य

आजकल जन-साहित्य की चर्चा बहुत व्यापक और गंभीर हो उठी है। लोक-कल्याण-कामियों एवं साहित्य-हितेच्छुओं की भी यही नेक सलाह है कि आज-कल जन-साहित्य की सृष्टि ही अपेक्षित है। जन-साहित्य के दो तात्पर्य हो सकते हैं—(१) जनता का साहित्य, अर्थात्—वह साहित्य, जिसका विषय सर्वसाधारण जनता ही हो। (२) जनता के लिए साहित्य, अर्थात्—वह साहित्य जो जनता का विषय हो।

साहित्य के पिछले युग में जन-साधारण का ग्रहण कभी साहित्य के विषय-रूप में नहीं किया गया! यह उपेक्षा साहित्य-सृजन-शक्ति की ईमानदारी तो नहीं ही मानी जा सकती। काव्य, नाटक आदि में पात्र और विषय का नपा-तुला मापदंड था। प्रभाव और परिणाम की परिकल्पना से शुभाशुभ का विचार भी किया जाता था। और, इसलिए, साहित्य में ऐसे ही विशिष्ट पात्र, परिस्थिति एवं विषय का उपयोग होता था, जिनका संपर्क जन-समाज के एक खास और संख्यानगण्य वर्ग से ही था। इतिहास जिस प्रकार चुने-माने राजाओं की वंशावली भर पेश करता तथा धर्म, जाति और देश के लिए सब प्रकार के बलिदान देनेवाले शहीदों के नाम पर दो बूँद स्याही की कंजूसी करता रहा है, ठीक उसी प्रकार साहित्य भी

समाज के सबसे बड़े और अनिवार्य अंग के साथ कृतघ्नता करता हुआ अपनी भी स्वास्थ्य-हानि करता रहा है। उसने चाँद से खिले मुखड़ों को देखा, किन्तु उन धूल-भरे चरणों को भुला दिया, जो उनकी बुनियाद हैं। फलस्वरूप हम कह सकते हैं कि साहित्य ने एक जीवंत प्रतिमा जरूर बनाई, मगर उसकी रीढ़ बनने से रह गई! यह एकांगिता साहित्य की कमी ही नहीं, उसका एक अक्षम्य अपराध है, आज जिसका प्रतिकार करना ही है। आज साहित्य को रंगमहल के बजाय मन्दिर बना देना है और उसपर से कुलीनों का एकाधिपत्य हटाकर उसे हर जन के लिए खोल देना है, जहाँ प्रत्येक के हास-अश्रु का एक मोल हो। वह गिने-चुने की मौरूसी जायदाद न हो सबकी जमीन हो। यह हुआ जनता का साहित्य। और, जनता के लिए साहित्य का तात्पर्य है वह साहित्य, जिसमें जनोपयोगी विषय की चर्चा हो। जो साहित्य कुछ खास व्यक्तियों के छोटे क्षेत्र में आबद्ध रह जाय, उसकी सार्थकता भी क्या? साहित्य की साधना और उसकी सिद्धि, दोनों ही दृष्टि से श्रेष्ठ साहित्य वही है, जो अधिक से अधिक लोगों में प्रचारित और अधिक से अधिक लोगों के लिए उपयोगी हो। साहित्य-रचना में साहित्यकार को कौन-सी प्रेरणा काम करती है? यही कि वह अपनी आत्मा के प्रकाश द्वारा बहुतों में में, बहुत दिनों के लिए, प्रतिष्ठित होना चाहता है। व्यापकता की यह तीव्र प्यास ही साहित्य-सृष्टि की जननी है, यही साहित्य की साधना है। और साहित्य की सिद्धि है जन-

कल्याण। महाकवि वाल्मीकि को जब तमसा के तट पर क्रौञ्च की विकल वियोग-वेदना ने वेकल कर दिया और उनके कंठ में एक अभूतपूर्व छंद का अविर्भाव हुआ, तब ब्रह्मा का यह संदेश लेकर स्वर्ग से नारद उतरे कि 'हे महाभाग कवि, तुम अपने इस अमूल्य संगीत का दान किसे दोगे? किस देवता की कीर्ति-कहानी अपने इस अलौकिक छन्द में गूंथकर स्वर्ग के देवता को मर्त्यलोक में अमरता प्रदान करोगे?' नारद को ऐसा निवेदन करते देख कवि ने कहा—"हे देवर्षि, देवदूत, पितामह के चरणों में मेरा यह निवेदन पहुँचाइए कि स्वर्ग से जो उतर आया, उसे पुनर्वार स्वर्ग को न ले जायँ। स्तवगानों से देवता मानव हुए आते है, मैं अपने छंद-गीतों से मनुष्य को देवता बनाऊँगा।"

साहित्य की मर्मवाणी यही है। आज के मनुष्य को देवता के बजाय मनुष्य बनाना ही सबसे जरूरी है; क्योंकि आज अभागा मनुष्य मनुष्य भी तो नहीं रह गया! इसलिए साहित्यकार का प्रधान कर्त्तव्य हो जाता है कि अपनी रचना द्वारा इन टूटे हुए दिलों में वह आशा का संचार करे, वेदना से बंद हुए कंठों में वाणी दे। यह महान् कार्य एकमात्र साहित्य द्वारा ही साध्य हो सकता है। दुःखदग्ध संसार के उत्तप्त मरुस्थल में जो मानवता निर्जीव हो गई है, उसके पुन-र्जीवन की शक्ति साहित्य के अमृत-रस में ही संचित है। सगर की संतानें जब दग्ध होकर मर गई थीं, तो स्वर्ग से मंदाकिनी की धारा को पृथ्वी पर लाना पड़ा था। आज की मरी हुई

मानवता को पुनरुज्जीवित करने के लिए साहित्य-गंगा का प्लावन चाहिए। और, उस साहित्य के दामन को पहले से बहुत बढ़ा देना होगा, जिसकी छाया वर्गविशेष के बजाय सबके लिए सुलभ हो। वह साहित्य जनता का विषय भी हो और उसका विषय सर्वसाधारण जनता भी हो। ऐसा नहीं होता, तो हम एक अनन्य शक्ति का दुरुपयोग ही करेंगे।

जन-साहित्य की सृष्टि जरूरी है, यह तो हर हालत में मान ही लेना है, और चूँकि उसकी सृष्टि में आज तक त्रुटि होती रही, इसलिए स्रष्टा दोष का भागी है—तर्क से यह भी मान लेना आवश्यक हो जाता है। किन्तु सृष्टि कर लेने से ही वह जनसाधारण के लिए उपयोगी और लाभप्रद होगा, इसका कौन-सा उपाय है? बादल अमृत बरसाये भी, तो खेत में फूल-फल लगने की कौन-सी सूरत हो सकती है? पेड़ में चीज़ लगे होने से भी कौओं के हिस्से में नहीं आते। हम आप जिस जनोपयोगी साहित्य की चिन्ता में एड़ी-चोटी का पसीना एक कर रहे हैं, यथार्थतः उस साहित्य की भी कोई उपयोगिता साधारण के लिए नहीं है। साहित्य अब तक जो वर्ग-विशेष के लिए था, उसका केवल यही कारण नहीं था कि उसी नीयत से उसकी रचना की गई थी। उसका एक कारण—और बहुत बड़ा कारण—यह भी रहा कि सर्वसाधारण, साहित्य के उस भाव-लोक तक पहुँचने में असमर्थ रहा। उसने पेड़ की चोटी तक जाकर फल तोड़ने का प्रयास तो नहीं ही किया, पाँव के पास फल टपक भी आया तो उसका उपयोग उसने नहीं

समझा। ऐसे साहित्य-ग्रन्थों का सर्वथा अभाव तो है नहीं, जिनमें सदा से उपेक्षित रहनेवाले पात्र और विषय ही आधार-स्वरूप लिये गये हैं, किन्तु उन महत्त्वपूर्ण रचनाओं का भी लाभ और आनन्द उतने ही थोड़े लोग उठाते हैं, जो साहित्य-रसिक हैं। प्रेमचन्द ने गरीब गृहस्थों के जीवन पर साहित्य की इमारत खड़ी की, शरच्चन्द्र ने नारी-जीवन के महत्त्वपूर्ण पहलुओं को अंतराल से लोक-चक्षु के सामने ला रखा, पर सर्वसाधारण में वह कितना लोकप्रिय हो सका? यही क्यों, जन-साहित्य के हिमायती जिस 'गोर्की' को लोक-जागृति का सफल कलाकार मानते हैं, जिस 'वाल्तेयर' और 'यूगो' को क्रान्ति का मन्त्र-द्रष्टा मानते हैं, उनके साहित्य का सहज रूपान्तर यदि यहाँ प्रस्तुत कर दिया जाय (है भी) तो भारतीय जनता पर उसका प्रभाव किस परिमाण में हो सकता है? आज तक का रचित साहित्य ही उस परिमाण का पक्का प्रमाण है।

उपयोगिता की दृष्टि से साहित्य का विचार करते हुए हम प्रायः एक बात भूल जाते हैं कि साहित्य का फलाफल लेखक-पाठक पर समान-रूप से निर्भर करता है। किसी जाति को भाग्य से जब कोई प्रतिभा मिल जाती है; तो वह धन्य हो उठती है। किन्तु, अगर उस प्रतिभा से लाभ उठानेवाले लोग न हों, तो वह प्रतिभा निर्जन के फूल से अधिक क्या सार्थक हो सकेगी? एक विद्वान् का मत है—"गौड गिभेथ स्पीच टु आल, सौंग टु दि फ्यु।" भगवान स्वर सबको देता है,

संगीत बाज-ब्राज को।" किन्तु हम समझते हैं, किसी जाति के लिए ऐसे अनेक भाग्यवान रचनाकार की जरूरत नहीं है, मगर सहृदय पाठक-समूह का होना आवश्यक है, जो वास्तव में मुश्किल से मिलता है। एक संस्कृत कवि ने इसीलिए कहा है—'हे ब्रह्मा, कपाल में और जो भी लांछन लिखा है, सब सह्य करूँगा, मगर अरसिकों के आगे कवित्त-निवेदन करने जैसी विडंबना कपाल में न लिखना।' इससे स्पष्ट है कि सहृदय पाठक सहज ही सुलभ नहीं होते। इसी अभाव से साहित्य का यह दुर्भाग्य रहा है कि उसको एक सँकरे दायरे में ही अपनी घर-गिरस्ती महदूद रखनी पड़ी है। खेती के लिए नियमित वर्षा आवश्यक है; किन्तु खेती का एकमात्र वही चरम साधन नहीं खेत का उर्वर होना भी अपेक्षित है। जो लोग सिर्फ साहित्य के 'स्टैण्डर्ड' को साधारण लोगों तक लाना चाहते हैं, वे न तो साहित्य के हित-साधक हैं, न जनता के। जनता की शिक्षा को, और उसके मानसिक स्तर को उन्नत करने का प्रयत्न करना ही यथार्थतः कल्याण का उपाय हो सकता है। जिस देश की नब्बे प्रतिशत जनता अक्षर-ज्ञान से वंचित है और दस प्रतिशत तथाकथित शिक्षितों में भी साहित्य के संस्कार का सर्वथा अभाव है, उस देश की साहित्य-साधना अगर असार्थक होती है, तो साहित्य-साधकों का कौन अपराध है! जनता की रुचि के अनुकूल साहित्य तैयार करने का अर्थ सत्साहित्य नहीं है, बल्कि जनता की रुचि को परिष्कृत और आत्मा को उन्नत करने वाला साहित्य सत्साहित्य है। उसीको हम साहित्य कहेंगे। ऐसे

उच्चकोटि के साहित्य-ग्रन्थों की कभी बाजार में कटती नहीं होती, उन्हें दीमकें काटती हैं! वास्तव में कहा जाय तो उच्चकोटि की कला या साहित्य में जनसाधारण की उपेक्षा नहीं रहती, बल्कि ऐसी कला और साहित्य ही चिरकाल से जनसाधारण द्वारा उपेक्षित रहता है। प्रसिद्ध समालोचक 'सर वाल्टर रैले' ने कहा है—"पुस्तकें उनके लिए लिखी जाती हैं जो उन्हें समझ सकें।" १ विवेकशील पाठकों के अभाव और समाज के अनादर से मनुष्य की कितनी ही मूल्यवान मानसिक-संपत्तियों का सत्यानाश हो चुका है, इसका कौन लेखा रखता है? 'इमर्सन' ने इसीलिए ऐसे महत्व के समय में जनता को सावधान रहने का उपदेश दिया है, जब उसके बीच एक महान् प्रतिभा ईश्वरीय देन के रूप में आती है। जनता के नाम पर साहित्यकार के उत्तरदायित्वों की सूची को निरंतर लम्बी करते रहना ही साहित्य से सुरुचि-प्राप्ति का साधन नहीं, उन साहित्यकारों की वाणी और उनकी कृति से लाभ उठाने की योग्यता जनता में उत्पन्न करना सबसे बड़ी बात है।

जनता की पसन्द साहित्य की कसौटी नहीं, न उनकी पसन्द का अनुगमन करना ही साहित्यकारों का लक्ष्य है। आम तौर से गानों में जनता 'बालम आइ बसो मोरे मन में', साहित्य में 'नन्द-भौजाई का झगड़ा' और कला में भी लगभग वैसी ही

---

१. बुक्स आर रिट्न टु बी रेड बाई दोज़ हू कैन अण्डरस्टैण्ड देम, देयर बेनीफिट्स एक्स्टेण्ड ओनली टु दोज़ हू कैन नोट, इन प्वाइंट आव मैटीरियल ग्रेटर देन आव लिटरेरी इण्टरेस्ट।

निम्न स्तर की चीजें पसन्द करती है। अगर इसी को आदर्श मानकर जन-साहित्य की सृष्टि की जाय तो दुर्भाग्य ही समझिये। ऐसे जन-साहित्य से तो साहित्य-हीन जाति ही ज्यादा भाग्यवती होगी। वास्तव में साहित्य को उच्चकोटि का ही रहना है, चाहे वह कुछ ही लोगों के काम का क्यों न रह जाय। देवता को स्वर्ग से धरातल तक उतारने को तो हम तैयार हो सकते हैं, पर उसे रसातल भेज देना सह्य नहीं हो सकता। यह समझौता करने को तो हम तैयार हैं कि साहित्य का परिधान—भाषा—सहज कर दिया जाय और उसके भाव-रत्न को जनता अपनी एकाग्रता से सुगम कर ले। इस सहज भाषा से हमारा यह अभिप्राय कदापि नहीं कि वह बाजारू या अनायास-लब्ध भाषा हो। सहज भाषा भी वही हो सकती है, जो अपने में ऐसा संस्कार रखती है, जिससे मनुष्यता की उन्नति संभव है। वह सहज भाषा शब्दों और उनकी गतिशीलता तथा कार्यकरी शक्ति पर निर्भर करती है। सुलझे हुए व्यक्ति ही इस भाषा का प्रयोग कर सकते हैं। जो जटिलता को भाषा की शक्ति समझ बैठे हैं वे भी भ्रम में हैं और जो मोटे प्रयोजन की भाषा को ही साहित्य बना देना चाहते हैं, वे भी भ्रम में हैं। दुष्यंत के प्रासाद-मन्दिर में पट्ट-महादेवी हंस-पादिका वीणा पर जो गान करती हैं, वह प्राकृत में—

"अहिणअ महुलोलुवो तुमं तह परिचुम्बिअ चुअमंजरिं।
कमल वसइयेउ निब्बुओ महुअर विसुमरिआसिणं कहं ॥"

यह सर्वसाधारण की भाषा है; किन्तु क्या हम इसे विदग्ध भाषा कह सकते हैं ? यह भी नहीं कि जो समझ से परे हो, वही उच्चकोटि का साहित्य है। दुर्बोधता श्रेष्ठ साहित्य का गुण अवश्य नहीं। किन्तु हम देखते हैं, जो रसिक हैं, जिनमें साहित्य का संस्कार है, वस्तुतः उनके आगे वह साहित्य दुर्बोध नहीं होता। वह रसिकों के लिये अपने में एक - सा अमृत - भंडार सचित रखता है। साहित्यिक भाषा जनता से बहुत दूर की तो नहीं होनी चाहिये, किन्तु उसका श्रेष्ठ और नागरिक होना अनिवार्य है। साहित्य की जो दुर्बोधता निन्दित है, वह वास्तव में स्वयं दुर्बोध है नहीं, हमारा कुंठित रसबोध ही उसे दुर्बोध बनाता है। जिसे रस दृष्टि है, उसे भाषा पारदर्शक पानी की तरह सतह के भाव-रत्न का दर्शन कराती है। प्रभाव-विस्तार की दृष्टि से 'इमर्सन' ने जैसी रचना को महत्व दिया है, उसमें भावों का ऐश्वर्य जरूरी है। जिसमें जितनी अर्थ-गम्भीरता होगी, वह रचना उतनी ही प्रभावशालिनी होगी। २ लेकिन उस भाव-गाम्भीर्य की महिमा जनसाधारण की समझ के लिये केवल

---

२. दि इफेक्ट आव वन्स राइटिंग आन दि पब्लिक माइण्ड इज मैथेमैटिकली मेजरेबुल बाइ इट्स डेप्थ आव थॉट। हाउ मच वाटर डज इट लिफ्ट? इफ इट अवेकेन्स यू टु थिंक, इफ इट लिफ्ट्स यू फ्राम योर फीट विथ दि ग्रेट वायस आव एलोक्वेन्स देन दि इफेक्ट इज टु बी वाइड, स्लो, परमनेन्ट ओवर दि माइण्ड्स आव मेन; इफ दि पेजेज इन्स्ट्रक्ट यू नॉट, दे विल डाई लाइक फ्लाइज इन दि आवर।

भाषा के माध्यम से ही संभव नहीं हो सकती। उसके लिए साहित्यकार और पाठक की रस-दृष्टि में सामंजस्य होना अनिवार्य-सा है। रस की सृष्टि जितना कठिन कार्य है, रस की उपलब्धि उससे कुछ कम कठिन नहीं। कवि बनाये नहीं जा सकते और न इच्छा करते ही कविता बनाई जा सकती है। बड़े-से-बड़े कवि भी यह नहीं कह सकते कि मैं कविता करूँगा। ३ काव्य-शक्ति ईश्वर-प्रदत्त हैं, शिक्षागत ज्ञान नहीं। गधे को प्रयत्न से गान नहीं सिखाया जा सकता, न अन्धे को सूरज का दर्शन कराया जा सकता है। ४ जिसमें जन्मजात प्रतिभा होती है, अभ्यास से उसे वह विकसित कर सकता है। मन की एकाग्रता और अभ्यास से कविता की उत्पत्ति हो सकती है, ऐसा "राजशेखर" ने कहा है। ठीक इसी तरह रसानुशीलन भी दैवी कृपा से हो सकता है; पर हर कोई रसज्ञ नहीं होता! 'अभिनवगुप्ताचार्य' कहते हैं कि विमल प्रतिभा के अधिकारी ही रसास्वादन में समर्थ होते हैं। ऐसे रसज्ञ

---

३. पोइट्री इज नॉट लाइक रिजनिंग ए पावर टु बी ऐक्जर्टेड एकॉर्डिंग टु दि डिटरमिनेशन ऑव दि विल। ए मैन कैननॉट से, आइ विल कम्पोज पोइट्री। ए ग्रेटेस्ट पोएट इवन कैननॉट से।—शेली।

४. यस्तु प्रकृत्याश्म समान एव काव्येन वा व्याकरणेन नष्टः।
तर्केन दाह्योऽनलधूमिना वाऽप्यविद्धकर्णः सुकविप्रबन्धैः॥
न तस्य वक्तृत्वसमुद्भवः स्याच्छिक्षाविशेषैरपि सुप्रयुक्तः।
न गर्दभो गायति शिक्षितोऽपि संदर्शितं पश्यति नार्कमन्धः॥

का स्वरूप, लक्षण या गुण क्या होना चाहिए, इस पर प्राचीन पंडितों ने विशेष प्रकाश नहीं डाला। इतना ही ज्ञात होता है कि रसज्ञाता काव्य-शक्ति की तरह ही एक दैवदत्त गुण-विशेष है और अनुशीलन तथा अभ्यास से उसका विकास होता है। आप तबतक किसी रचना का आस्वादन नहीं कर सकते, जब-तक उन भावों, परिस्थितियों से आपके मन का परिचय नहीं, जिनको आधार मानकर कवि ने अपना संसार खड़ा किया है। कालिदास को पढ़ते हुए आपको उनके समय, उनके पात्र और उनकी परिस्थिति से परिचित होना चाहिए। इस अंतर्दृष्टि या कल्पना-शक्ति की कमी होने से तो साहित्य-पाठ का सच्चा आनन्द कदापि नहीं प्राप्त हो सकता। और, साहित्य-वस्तु भी तो ऐसी-वैसी नहीं; वह है इतिहास और दर्शन की सम्मिलित आत्मा, ज्ञान-विज्ञान का समन्वय। केवल भाषा को बाजारू बना देने से ही साहित्य की आत्मा तक जिज्ञासु की पहुँच हो सकेगी, यह असंभव है। भाषा—भाव का वाहन है, और भाव है—रस का आधार। जिस तरह वाक्य और अर्थ पार्वती-परमेश्वर की तरह ५ अभिन्न माने गये हैं, उसी तरह भाव और रस का भी आपसी सम्बन्ध बीज और वृक्ष का है। ६ ऐसे रस की उपलब्धि के लिए अंतर्दृष्टि उतनी ही पैनी चाहिए, जितनी साहित्यकार की होती है। मधुमक्खी के छत्ते से निकाल कर शहद की मिठास का कोई अन्य व्यक्ति

५. वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥ (रघुवंश)

आपको रसास्वादन कराये, यह सुविधा साहित्य-रसास्वादन के साथ नहीं होती। इसका आहरण तो पाठक स्वयं ही कर सकता है। 'कार्लाइल' का कहना है, 'जब हम सावधानी से कविता-पाठ करते हैं, तो स्वयं कवि हो जाते हैं।' इसका अभिप्राय यह है कि काव्यानन्द के लिए पाठक को उसी भावावस्था में आना चाहिए, जो कवि की होती है। कवि जिस रस की सृष्टि करता है, पाठक को उसी का ग्रहण कर आनन्द लाभ करना पड़ता है। इस प्रकार काव्य-रचना के आनन्द और काव्य - पाठ के आनन्द में रूपगत भिन्नता होते हुए भी स्वरूपगत समानता होती है।

यह विषय दूसरे ढंग से समझा जाय। साहित्य के साधारणतया चार प्रधान उपादान होते हैं—अनुधावना (इनटेलेक्चुअल ऐलिमेंट), अनुभूति (इमोशन), कल्पना (इमेजिनेशन) और रचनाशैली (टेकनिक)। रचना-विशेष की इस विशेषता को समझे बिना उसकी मार्मिकता का आभास हम नहीं पा सकते। किसी मूर्ति के सौन्दर्य में उसके सभी अंगों के सौष्ठव का एक तारतम्य होता है, जो खंड-खंड में न व्याप्त होकर संपूर्ण मूर्ति के स्वरूप में ही निहित होता है। रचना के ये चारों उपादान कभी अलग-अलग रूप में हमें पूर्ण आनन्द नहीं दे सकते। इसके अतिरिक्त रचना में साहित्यकार की आत्मीयता भी होती है। यह आत्मीयता यों समझी जा

६. यथा बीजाद्भवेद्वृक्षो वृक्षात्पुष्पं फलं तथा।
तथा मूलं रसाः सर्वे तेभ्यो भावा व्यवस्थिताः ॥—(भरत मुनि)

सकती है—विश्वकवि 'वाल्ट व्हिटमैन' ने अपनी पुस्तक के बारे में लिखा—"साथी, यह कोई किताब नहीं, जो इसे छूता है, वह एक आदमी को छूता है।[७] जो पुस्तक का अर्थ सिर्फ यह समझते हैं कि लेखक ने अभ्यासवश दिमागी खुराफात के लिए कुछ कागज रँग दिया है, वह उसकी महत्ता नहीं समझ सकते। पुस्तक में साहित्यिक का प्राण ढलता है—उसके युग-युग की जीवन - साधना साकार होती है। कवि 'डी० एस० सैवेज' ने तो यहाँ तक कहा है कि युग-विशेष का मन और उसकी आत्मा साहित्यिक अभिव्यक्तियों में पुस्तकों द्वारा ही जीवित रहती है।[८] उपन्यासों में जिन पात्रों के चरित्र आते हैं, उनसे आप विनोदमात्र पा सकते हैं, यह शायद संभव भी हो, किन्तु जिनके द्वारा वे पात्र नियोजित होते हैं, वे उनके मन के खिलौने नहीं होते। अपने पराये के साथ सुख-दुःख में हम यथार्थ जीवन में जैसे सुखी-दुखी हुआ करते हैं, उन रचनाकारों के कल्पना-प्रसूत पात्रों के साथ उनका वैसा ही प्रेम और ममता का संबंध होता है। दो-एक उदाहरणों द्वारा इसे स्पष्ट कर देना तो अच्छा होगा कि अपने पात्रों के साथ औपन्यासिकों की क्या हमदर्दी होती है। प्रख्यात फ्रांसीसी कलाकार 'बालजक' एक दिन अपने में खोया-सा कहीं जा रहा

७. [illegible]

८. [illegible]

था। एकाध मित्र मिल गये। भेंट होते ही अचानक वालजक बोल उठा—'यार, वह मर गया!' लोग समझ न सके कि जिसके मरने की चर्चा करके कलाकार करुण हो उठा है, 'वह' वास्तव में है कौन ? पीछे पता चला, यह 'वह' वालजक के उस नये उपन्यास का पात्र है, जिसे वह उस समय लिख रहा था और उस दिन उसका वह हिस्सा खत्म हुआ था, जहाँ पात्र की मृत्यु हुई। उसके उपन्यास का पात्र नहीं, जैसे उसका कोई आत्मीय मरा था! रूसी कलाकार 'तुर्गनेव' अपने 'पिता और पुत्र' नामक उपन्यास में जब उस स्थल तक पहुँचा, जहाँ साहित्य का पहला निहलिस्ट पात्र 'बैजेरोव' मर गया, वहाँ वह फूट-फूटकर रो उठा। कवि रवीन्द्रनाथ ने अपने गीतों के बारे में भी दुखी होकर कहा—"पाठकों की दुनियाँ में अपने गीतों को रखते हुए गीतकार उसी तरह दुखी होता है, जिस तरह बेटी को दामाद के हाथों में सौंपकर उसका पिता। अब यह तुम्हारी हुई, इसे सुख दोगे, सुखी होगी; दुख दोगे, दुखी होगी।" इसलिए साहित्यकारों को बार-बार उनके महत् उत्तरदायित्व की याद दिलाते रहने के साथ पाठकों को भी समझाते रहना जरूरी है कि साहित्य का उनपर कुछ कम दावा नहीं। वे अगर साहित्य को मनोरंजन का साधनमात्र मानकर महफिल की तवायफ की तरह उससे रुचि की फरमाइश करते रहें, तो औचित्य की रक्षा तो नहीं होती, अशिष्टता होती है।

'टाइम्स ऑव इण्डिया' प्रेस (बम्बई) से 'जार्ज बर्नर्ड शॉ' के नाटकों का एक संकलन कुछ दिन पहले प्रकाशित हुआ है।

उसकी भूमिका उन्होंने स्वयं लिखी है और अंत में लिखा है—"तुम क्या समझते हो कि जिन चीजों के लिखने में मेरी सारी जीवन-साधना लगी है, उन्हे तुम एक बार पढ़कर ही समझ लोगे ? हर साल कम से कम दो - तीन बार करके जब तुम लगातार दस साल उन्हें पढ़ोगे, तब कहीं समझ पाओगे ! इसी ख़याल से किताब में मैंने मजबूत जिल्द बँधवाई है।" 'शॉ' दंभी माने जाते हैं। यह भी उनका एक दंभ ही है—इसलिए कि उन्होंने बात सही कही है, पर शिष्टता नहीं निबाही। शिष्टता के मानी लगभग झूठ है ! आपके आकाशचुम्बी महल है, पर कोई अतिथि आवे तो शिष्टता के नाते आपको यह कहना चाहिए कि 'मेरी पर्णकुटी में आकर मुझे कृतार्थ किया।' पूछने वाले के लिए 'दौलतख़ाना' पूछना शिष्टता है और उत्तर देनेवाले के लिए 'गरीबख़ाना' कहना शिष्टता है। इस शिष्टता के सिवा 'शॉ' का जो दावा है, वह अक्षरशः सत्य है। कोई जीवन की साधना आपके आगे रखता है, आप उसके मर्म को समझे-बूझे बिना रुचि की तराज़ू पर तौलकर 'अच्छी-बुरी' की सस्ती आलोचना कर देते हैं ! क्या यह अन्याय नहीं ?

अब हमने यह देख लिया कि स्वाध्याय भी एक साधना है, पढ़नेवालों का अनुष्ठान भी महत् है। इसलिये केवल जन-साधारण की भाषा में लिख देने से ही साहित्य जन-साहित्य होगा, यह आशा तो विडम्बना मात्र है। भाषा के अतिरिक्त भी साहित्य की महत्ता के और कारण हैं। और, जनता के लिए कलाकारों का [illegible] लिखना तो साहित्य के लिए अनपेक्षित है ;

क्योंकि साहित्य लोक-रुचि का अनुगामी हो, यही ठीक नहीं, लोक-रुचि का निर्माण भी उसका लक्ष्य है। मनुष्य को पशु-सामान्य धरातल से उठाना साहित्य का काम है। इसलिए अगर सत्य कहें, तो यही कहना होगा कि साहित्य पर साधारण-तया जो दुरूहता का दोष लगाया जाता है, वह सोलहो आने साहित्य का ही दोष नहीं होता, ज्यादातर जन-साधारण की रसबोध की अक्षमता तथा साहित्य-संस्कार-हीनता का भी दोष होता है। जीवन और जगत् का उत्कर्ष ही साहित्य की साधना है, उन्नता ही उसका आदर्श है। जनता के लिए अगर उसे नीचे उतारना पड़े, तो इसे साहित्य का दुर्भाग्य ही समझना चाहिए। संस्कृत देश या संस्कृत जनता में उच्चकोटि के साहित्य का निरादर नहीं होता। गेटे का कहना है—'जब सच्ची कविता का अनादर हो, तो बर्बरयुग का सूत्रपात समझिए। जो अच्छी कविता नहीं पसन्द करता, वह कोई भी हो, बर्बर है।' ६

जन-साहित्य की आवश्यकता तो शायद है, पर उसके निर्माण का वास्तविक उपाय अभी नहीं मिला। उपर्युक्त विवेचन से रचयिता और पाठक के पारस्परिक कर्त्तव्य को हम देख चुके; यह भी देखा कि जन-साहित्य के निर्माण अथवा साहित्य के संस्कार के लिए जनता को योग्य बनाने में क्या कठिनाइयाँ हैं। कभी रामानन्द प्रभु ने धर्मतत्व को भाषा के जटिल जाल से मुक्ति दी थी। उन्होंने महसूस किया था कि

---

६. हि हू हैज नो इअर फॉर पोइट्री इज ए बारबैरियन, बी ही हू मे।

उसकी भूमिका उन्होंने स्वयं लिखी है और अंत में लिखा है—
"तुम क्या समझते हो कि जिन चीजों के लिखने में मेरी सारी
जीवन-साधना लगी है, उन्हें तुम एक बार पढ़कर ही समझ
लोगे ? हर साल कम से कम दो - तीन बार करके जब तुम
लगातार दस साल इन्हें पढ़ोगे, तब कहीं समझ पाओगे ! इसी
खयाल से किताब में मैंने मजबूत जिल्द बँधवाई है।" 'शॉ'
दंभी माने जाते हैं। यह भी उनका एक दंभ ही है—इसलिए
कि उन्होंने बात सही कही है, पर शिष्टता नहीं निबाही। शिष्टता
के मानी लगभग झूठ है ! आपके आकाशचुम्बी महल है, पर
कोई अतिथि आये तो शिष्टता के नाते आपको यह कहना चाहिए
कि 'मेरी पर्णकुटी में आकर मुझे कृतार्थ किया।' पूछने वाले
के लिए 'दौलतखाना' पूछना शिष्टता है और उत्तर देनेवाले के
लिए 'गरीबखाना' कहना शिष्टता है। इस शिष्टता के सिवा
'शॉ' का जो दावा है, वह अक्षरशः सत्य है। कोई जीवन की
-साधना आपके आगे रखता है, आप उसके मर्म को समझे-बूझे
विना रुचि की तराजू पर तौलकर 'अच्छी-बुरी' की सस्ती
आलोचना कर देते हैं ! क्या यह अन्याय नहीं ?

अब हमने यह देख लिया कि स्वाध्याय भी एक साधना है,
पढ़नेवालों का अनुष्ठान भी महत् है। इसलिये केवल जन-
साधारण की भाषा में लिख देने से ही साहित्य जन-साहित्य
होगा, यह आशा तो विडंबना मात्र है। भाषा के अतिरिक्त
भी साहित्य की गूढ़ता के और पहलू हैं। और, जनता के लिए
फरमाइशी चीज लिखना तो साहित्य के लिए अनपेक्षित है

क्योंकि साहित्य लोक-रुचि का अनुगामी हो, यही ठीक नहीं, लोक-रुचि का निर्माण भी उसका लक्ष्य है। मनुष्य को पशु-सामान्य धरातल से उठाना साहित्य का काम है। इसलिए अगर सत्य कहें, तो यही कहना होगा कि साहित्य पर साधारणतया जो दुरूहता का दोष लगाया जाता है, वह सोलहो आने साहित्य का ही दोष नहीं होता, ज्यादातर जन-साधारण की रसबोध की अक्षमता तथा साहित्य-संस्कार-हीनता का भी दोष होता है। जीवन और जगत् का उत्कर्ष ही साहित्य की साधना है, उन्नत ही उसका आदर्श है। जनता के लिए अगर उसे नीचे उतारना पड़े, तो इसे साहित्य का दुर्भाग्य ही समझना चाहिए। संस्कृत देश या संस्कृत जनता में उच्चकोटि के साहित्य का निरादर नहीं होता। गेटे का कहना है—'जब सच्ची कविता का अनादर हो, तो बर्बरयुग का सूत्रपात समझिए। जो अच्छी कविता नहीं पसन्द करता, वह कोई भी हो, बर्बर है।' ६

जन-साहित्य की आवश्यकता तो शायद है, पर उसके निर्माण का वास्तविक उपाय अभी नहीं मिला। उपर्युक्त विवेचन से रचयिता और पाठक के पारस्परिक कर्त्तव्य को हम देख चुके; यह भी देखा कि जन-साहित्य के निर्माण अथवा साहित्य के संस्कार के लिए जनता को योग्य बनाने में क्या कठिनाइयाँ हैं। कभी रामानन्द प्रभु ने धर्मतत्व को भाषा के जटिल जाल से मुक्ति दी थी। उन्होंने महसूस किया था कि

---

६. हि हू हैज नो इअर फॉर पोइट्री इज ए बार्बैरियन, बी ही हू मे।

दुर्बोध भाषा में होने से ही जाति धर्मतत्वों से दूर होती जा रही है और उनके शिष्यों ने 'भाषा' के माध्यम द्वारा धर्म की नाव को उबारा। कबीर ने कहा—'संस्कृत बँधा पानी है, भाषा बहता नीर है।' लेकिन आज तो संस्कृत को लोग बेमौत मार ही चुके हैं और 'भाषा' में साहित्य लिखा जा रहा है, फिर भी वही दुरूहता कैसे रह गई ? क्या यह कहना होगा कि 'भाषा' भी अब 'लोगों की भाषा' नहीं ! यह हमारा दुर्भाग्य है।

जनता के साहित्य का जिक्र करते हुए बहुत - से लोग सूर और तुलसी, कबीर और दादू का जिक्र करते हैं। कहते हैं, वे जनता के कवि हैं। उनके छंद, चौपाई, दोहे महलों से झोंपड़े तक समान रूप से प्रिय हैं—उनकी लोकप्रियता में सन्देह की गुंजाइश नहीं। किन्तु क्या यह इसलिए है कि लोग उन्हें समझते-बूझते हैं ? अच्छे से अच्छे लोग भी रामायण का अर्थ समझने में पानी पीते हैं। पंडितों के लिए भी रामायण में प्रयुक्त शब्द 'कोश' की आवश्यकता उपस्थित करते हैं। फिर भी लोग रामायण पढ़ते हैं, पढ़कर उसके समझने में परिश्रम भी करते रहते हैं। इसमें उनकी सहज जानकारी या उनकी साहित्यप्रियता नहीं है, है भक्तिजन्य जिज्ञासा, मुक्ति का अमीमांसित विश्वास। मरणासन्न रोगी के सामने, जो संज्ञा-शून्य भी होता है, पंडितों द्वारा गीता का पारायण कराने का क्या अर्थ होता है ? क्या रोगी कर्मवाद के उन गूढ़ श्लोकों का अर्थ उस समय समझता है ? यह तो केवल इसलिए किया

जाता है कि लोगों को उस रूप में मुक्ति पाने का विश्वास है। रामायण बाँचने में पुण्य है, ज्ञान चाहे न हो! दूसरी बात यह भी है कि रामायण का यह घर-घर प्रचार स्वयं पढ़ने के बजाय लोक-मुख से ही विशेष संभव हो सका है, क्योंकि ज़्यादा घरों में तो उसे प्रतिष्ठित करके धूप-दीप ही दिखाया जाता है, देखा नहीं जाता। इसी प्रकार जो लोग बात-बात में फ्रांस की, रूस की क्रांति की चर्चा करते हैं और कहते हैं कि वहाँ यह जन-साहित्य-सृष्टि द्वारा ही संभव हुआ है, वे इस बात को भूल जाते हैं कि वहाँ की ९० प्रतिशत जनता निरक्षर भट्टाचार्य नहीं। उनका थोड़ा ही बहुत सही, अक्षर और किताबों से संबंध रहा होगा। अगर अशिक्षा के ऐसे ही घोर अन्धकार में वहाँ साहित्य द्वारा क्रान्ति आई, तो यह झूठ है। फिर तो हम कहेंगे कि क्रान्ति आप ही आई और सफल हो गई, साहित्य को उसका श्रेय नहीं है। ऐसी अनेक महत्वपूर्ण घटनायें संसार में घट जाती हैं, जिनका आधार और कारण नहीं होता। विचारने की बात है, आप हल्की से हल्की भाषा में, मामूली ही बात लिखें, पर उस जनता का उससे क्या संबंध हो सकता है, जो पढ़ ही नहीं सकती उसे! निरक्षर के लिए लिखित साहित्य का मोल ही क्या है? हाँ, गायकों के दल गाँव-गाँव भेजे जायँ, वक्ता जायँ और मौखिक साहित्य द्वारा जनता का मानसिक विकास किया जाय, तो यह संभव है। किन्तु बहरहाल लिखित साहित्य तो भारत की आम जनता के लिए वैसा ही बेकार है, जैसा बहरे को संगीत।

इस अर्थ और दृष्टिकोण से तो जन-साहित्य का कोई तात्पर्य नहीं होता। उपेक्षित पात्र साहित्य में लाये जा सकते हैं, उनकी बातें साहित्य में दी जा सकती हैं, बल्कि दी जानी चाहिये। किन्तु उसका सुफल ज्यादा से ज्यादा यही हो सकता है कि साहित्य-रसिक एक उस पहलू से परिचित होंगे, जिससे अब तक वे परहेज करते रहे हैं और इससे उन दीन-हीनों के प्रति उनके विचार न्याय्य तथा उदार हो सकते है। उन सामंतशाही और पूंजीवाद के पुजारियों का दृष्टिकोण थोड़ा या ज्यादा बदल सकता है। यह भी एक लाभ है, लेकिन वह लाभ नहीं, जो कि हम चाहते हैं। इससे उन बेचारों का अपने तईं क्या लाभ हो सकता है? आँख अपने-आपको ही नहीं देख पायेगी। जो लोग इस सत्प्रयत्न में लगे हैं, वे सराहनीय हैं—उनका प्रयास निस्सन्देह स्तुत्य है, किन्तु जन-साहित्य की उपादेयता तो तभी सिद्ध हो सकती है जब जनता में शिक्षा का प्रचार होगा, उनकी चेतना उद्बुद्ध होगी, उनमें साहित्यिक संस्कार का जागरण होगा। इसलिए फिलहाल तो जन-साहित्य की सृष्टि की जो प्राणपात से चेष्टा हो रही है, उसके बदले अधिक से अधिक शिक्षालय खोले जाने का प्रयत्न होना चाहिए। महल विराट् और सुन्दर हो, यह कौन नहीं चाहता? किन्तु नींव न हो, तो वह हवाईमहल कैसा और क्या होगा, यह कहना बेकार है।

कविता और विज्ञान

कॉलेरिज ने कहा है—कविता का दूसरा रुख गद्य नहीं, विज्ञान है। यानी काव्य और विज्ञान, एक ही तस्वीर के दो रुख हैं। यह नहीं कि काव्य और विज्ञान एक दूसरे के विरोधी हैं। बहुतों की ऐसी भी धारणा थी और उन्हें विज्ञान से एक क्षोभ-सा रहा। उन्नीसवीं सदी के एक तरुण अंग्रेज कवि ने म्रियमाण होकर लिखा—'एक दिन धरती पर के नीले आसमान पर एक इन्द्रधनुष (काव्य) था, अब वह नहीं रहा। दर्शन और विज्ञान के तर्क-तीर से स्वप्नपरी के पर कट रहे हैं। वैज्ञानिक, ज्यामितिक सूत्रों से वैचित्र्यमयी सृष्टि का विचार कर रहा है।'

किन्तु, वास्तव में, बात क्षोभ की नहीं। यह आशंका होनी ही नहीं चाहिये कि वामन की तरह विज्ञान एक दिन आकाश-पाताल को छाप लेगा और कविता कहीं की न होगी। क्योंकि विज्ञान अपनी प्रारम्भिक अवस्था में भी साहित्य है और जब उसका पर्यवसान अपने लक्ष्यबिन्दु में होता है, तब अपनी उस अन्तिम अवस्था में भी वह साहित्य हो जाता है। तब उसका आधार बुद्धि नहीं, भाव हो जाता है। साहित्य की गोद में विज्ञान जन्म लेता है, साहित्य की गोद में उसकी समाप्ति होती

है। जन्म-मरण के दो बिन्दुओं पर साहित्य ने ही विज्ञान के जीवन को बांध रखा है।

विज्ञान और कविता में भेद उद्देश्यगत नहीं, स्वरूपगत है। लक्ष्य और प्राप्ति में दोनों स्वगोत्री हैं। साधन एक नहीं होते हुए भी सिद्धि दोनों की एक है। दोनों ही सत्य के पुजारी हैं, सत्य के प्रतिष्ठाता हैं। सत्य-राज्य के इन दो यात्रियों के मार्ग भिन्न हैं, पाथेय भिन्न हैं। वस्तुनिष्ठ विज्ञान बुद्धिजीवी है, तर्क उसके आधार हैं, मस्तिष्क उसका केन्द्र। कल्पनाजीवी कविता का पाथेय प्रेमजन्य निष्ठा है, जिसका केन्द्र मन है। विज्ञान, पुरुष के समान कर्त्तव्य-कठोर है; काव्य, नारी के समान श्रद्धालु और ममतामयी। समाज के दो अनिवार्य अंग हैं स्त्री और पुरुष, जीवन के दो अनिवार्य आधार हैं मन और मस्तिष्क, मानवी सृष्टि के दो विजय-केतन काव्य और विज्ञान हैं।

कल्पना भाव-राज्य का पुष्पक विमान है, जिसमें चिरन्तन सत्य गतिशील होता है। कल्पना असत्य का पर्यायवाची हर्गिज नहीं है और, इसीलिये, कल्पनाजीवी काव्य, टेनिसन की राय में, यथार्थ से ज्यादा सत्य होता है। वास्तव में, सच्ची कविता तो वह है, जो यथार्थ को आदर्शमय और आदर्श को यथार्थमय कर दे। प्राण को शरीर और शरीर को प्राण देने की दुर्लभ शक्ति कविता ही में है, इसलिये, कि अलादीन की तरह, कल्पना का जादूगर-चिराग़ उसके हाथ में है। जिस घोर अन्धकार में विज्ञान की वस्तुनिष्ठ युक्तियाँ भटक जाती हैं, कल्पना के प्रकाश में कविता की आँखें वहाँ देख पाती हैं।

विचारक वैज्ञानिक सत्य को सत्य से अधिक कुछ नहीं देख सकता। वह तो प्रकृति का कानूनी पण्डित है। काव्यकार स्रष्टा है, वह सत्य को सुन्दर बना लेता है। इसलिये साहित्य की परिधि में ज्ञान-विज्ञान, दोनों का समावेश हो जाता है।

आलोचना और रचना का एक महत्व नहीं होता, विज्ञान और काव्य का भी नहीं है। आलोचक सम्पूर्ण को खण्ड-खण्ड करके देखता है, स्रष्टा खण्डों का एकीकरण करता है। सर जगदीशचन्द्र ने प्रकृति के अणु-अणु की शस्त्र-परीक्षा कर उसमें मनुष्य की तरह सजग चेतना पायी। परोक्ष में उन्होंने जीवन के प्रति जीवन की आत्मीयता का आवेदन प्रचारित किया। कवि ने प्रकृति की चेतनता से विना उसे खण्डित किये ही तादात्म्य स्थापित किया। कवि सृष्टि की भिन्न-भिन्न वस्तुओं में एक ही सम्पूर्ण सत्य का आभास पाता है। वाह्यतः सृष्टि में सामंजस्यहीनता है, किन्तु एक अलक्ष्य तार में वह जुड़ी है। इसी सामंजस्य के ज्ञान, सम्पूर्णता के आदर्श में काव्य का प्राण है। प्लेटो ने कहा है—'कविता ही सब प्रकार की रचनाओं से अधिक दार्शनिक है, क्योंकि इसका उद्देश्य सत्य है। सच्चा कवि वही है, जो अनेक में एक को देखता है और अपनी रचना में उस सम्पूर्णता के आदर्श की प्रतिष्ठा करता है।'

कविता की अगणित परिभाषायें गढ़ी गयी हैं। किन्तु कविता से हम जिस अभिव्यक्ति को समझते हैं, वह कविता नहीं है, वास्तव में कविता वह अनुभूति है, जो कवि की एकाग्र चेतना में है। हेजलिट ने साफ कहा है—'वास्तव में कविता

कोई लिपिबद्ध करने की वस्तु नहीं, यह हमारी अपनी सृष्टि का उपकरण है। १९३७ के अप्रैल के 'माडर्न रिव्यू' में प्रकाशित अपने पत्र में स्वर्गीय रवीन्द्रनाथ ने भी ऐसा ही कहा है—'सृष्टि की क्षमता ही कविता का मूल है।' जो क्षमता और जो विभेद कवि और दार्शनिक में हैं, वही वैज्ञानिक और कवि में है। कवि दार्शनिक होता है और दार्शनिक कवि। दोनों ईश्वर की शाश्वत सत्ता के उपासक हैं। दार्शनिक सत्य के आदर्श के रूप में ईश्वर को पूजता है, कवि सौंदर्य की चेतना के रूप में उसकी उपासना करता है। दर्शन सत्य का मन्दिर है, कविता सौंदर्य का ज्योति-दीप। दोनों में विरोध नहीं है। सत्य सुन्दर है और सुन्दर सत्य।

सत्य की निष्ठा में विज्ञान कविता का सहोदर है। इस विराट् विचित्र सृष्टि में विविधता में एकत्व लानेवाली रागिनी कौन-सी है, विज्ञान इसका पता नहीं दे पाता। क्योंकि कल्पना का सप्तम स्वर बेचारे विज्ञान को नहीं है। यह तो कविता है, जिसे हम मानव-हृदय में सृष्टि के संगीत की प्रतिध्वनि कह सकते हैं। विश्लेषण स्वरूप को पा सकता है, प्राण को पाने के लिये आँखें नहीं, बुद्धि नहीं, प्राण चाहिये। एक लावण्यमयी स्त्री के हर अंग की आलोचना से उसके स्वरूप का ज्ञान हो सकता है, सौंदर्य की उपलब्धि हो सकती है, किन्तु वह प्राप्ति क्या पूर्ण होगी? स्वरूप ही मनुष्य नहीं, प्राण मनुष्य है, जो शरीर के आधार में बसता है। यह श्रद्धा और प्रेम द्वारा पाया जा सकता है। सन्त कवियों और कलाकारों ने

ज्ञान की अपेक्षा रूप-साधना को श्रेय दिया। उन्होंने अरूप को रूप, असीम को एक सीमा दी और बुद्धि के दंभी चिराग के बजाय प्रेम और भक्ति के फल-फूलों से उसे पूजा, पाया भी। रूप-विधान के अनन्तर आत्मीयता का आरोप अधिक सुगम हो जाता है। ईश्वर को जानने के लिये उसके विधान के सौन्दर्य को जानना आवश्यक है, संगीत के उस एक सुर को, वीणा के उस एक तार को जानना आवश्यक है, जिससे सब कुछ ध्वनित है, जिसकी प्रतिध्वनि से सब कुछ रागमय है। विज्ञान जानना चाहता है। फलतः वह जानने वाली वस्तु से एक पृथक् सत्ता है। जहाँ सृष्टि से मतलब है, वहां स्रष्टा और सृष्टि एक हैं। ईश्वर ने छन्दबद्ध पद्य नहीं लिखे, मगर उसे कवि की आख्या दी गयी है। अंग्रेज कवि शेली ने भास्कर, चित्र-शिल्पी, राष्ट्रनिर्माता, सबको 'कवि' कहा है, इसलिये कि उनकी प्रेरणा सृष्टि के आवेग से आंदोलित है।

विज्ञान उम्र में साहित्य से छोटा है। विज्ञान ने मानव और विश्व में ज्ञाता और ज्ञेय का सम्बन्ध कायम कर बीच में एक दीवार खड़ी कर दी है। अहं के आलोक ने उस शिशु अबोधता को दूर कर दिया, जिसमें विश्व और मानव एक परिवार के सदस्य थे, द्रष्टा और दृश्य में भेद न था। विज्ञान ने सृष्टि-मुग्ध बालकों को आशंकित ज्ञानी बना दिया। अपने आश्चर्य-जनक आविष्कारों से विज्ञान ने मानो कविता को ताने दिये कि तुम्हारे अतीन्द्रिय राज्य में मेरी विजय-ध्वजा उड़ने लगी। मेरे विजय - रोल में तुम्हारा काव्य मर्मर बन जायगा। किन्तु

गौरीशृंग से ऊपर जुपिटर और मार्स और चन्द्रमा में जाकर भी विज्ञान की पिपासा अधूरी रह गयी। 'और आगे ?' के उत्तर में उसकी बुद्धि मौन हो गयी और तब फिर कल्पना ने बुद्धि को थपकियाँ देकर माँ की तरह सुला दिया और खुद जागती रही। कल्पना से बुद्धि और बुद्धि से फिर कल्पना। एक जगह से दो भिन्न दिशाओं में चलकर साहित्य और विज्ञान फिर इकट्ठे हो गये और सत्य के आलोकित पथ में दोनों अश्विनी-कुमार की तरह आगे बढ़े। सत्य का सुन्दर से मेल हो गया।

हम कह चुके हैं कि कविता सत्यनिष्ठ है और विज्ञान भी सत्यान्वेषी है। अगर दोनों में अन्तर है तो सिर्फ इतना ही कि विज्ञान सिर्फ सत्य को चाहता है, जब कि काव्य सौंदर्य-जाह्नवी में सत्य को धो लेना चाहता है और चाहता है कि उस प्राप्ति से संसार का कल्याण हो। वह केवल श्रेय न हो, प्रेय भी हो। यहीं सत्य का सुन्दर से और सत्य-सुन्दर का कल्याण से मेल हो जाता है। कवि और वैज्ञानिक सत्य, शिव, सुन्दर के उपासक हो जाते हैं। यहाँ विज्ञान के बुद्धि नहीं रहती, काव्य के अलंकार नहीं रहता। एक सन्त कवि ने कहा है, राधा जब कृष्ण के मिलन को जाती, तो अंग के सारे आभूषण उतार फेंकती। मिलने के लिये ही साज-सज्जा और चेष्टा होती है, मिलने के बाद ये निष्प्रयोजनीय हैं।

अतएव काव्य और विज्ञान पंचतन्त्र के एकोदर पृथक् ग्रीव हैं। एक चोंच इसलिये विष नहीं पी सकती, कि उसमें दोनों का अन्त है। भाव और सुर की तरह दोनों अभेद्य हैं, पार्वती-परमेश्वर की तरह एक हैं।

साहित्य क्यों ?

उपयोगिता की भावना इस युग की एक खास उपज है। वस्तु-विशेष की श्रेष्ठता और निकृष्टता के लिए उपयोगिता की ही कसौटी सबके आगे रहती है। जिन चीजों से जीवन-यात्रा में किसी तरह की मदद मिलती है, जिन चीजों से जीवन की जरूरतें हल होती हैं, मानव-समाज के लिए वे ही वस्तुयें उपादेय और आवश्यक हैं। ऐसी दशा में स्वभावतः एक प्रश्न मन में उठता है कि आखिर इस ललित-कला और साहित्य का क्या उद्देश्य है ? हम लिखते क्यों हैं ? क्यों हम सूक्ष्म कारु-कला या चारु-कला की सृष्टि करते हैं ?

सच पूछिये तो, कला या साहित्य मानव-अन्तर का प्राचुर्य है। प्राचुर्य वह है, जो हमारी आवश्यकता के अतिरिक्त है। लेकिन, साफ बात तो यह है कि साहित्य से हमारी रोटी की समस्या हल नहीं होती। मानव-समाज की इस सदा की समस्या पर जो शास्त्र थोड़ा-बहुत प्रकाश डालता भी है, उस अर्थशास्त्र को साहित्य की सीमा में प्रवेश करने का अधिकार नहीं। क्योंकि 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' की परिभाषा के अनुसार वह शास्त्र उत्तीर्ण नहीं होता। कला से हमारी नग्नता-निवारण का मसला नहीं हल होता। गर्ज कि आहार, निद्रा, मैथुन आदि जीवन की जो स्थूल आवश्यकताएँ हैं, उनकी पूर्ति

में हमें कला-रचना या साहित्य-सृष्टि से किसी तरह की सहूलियत नहीं होती। काम-शास्त्र, जो हमारी शास्त्रोक्त आवश्यकताओं में से एक ओर मदद करता है, वह भी साहित्य नहीं है। फिर साहित्य या कला का, जिसे हमने जीव और जगत् में इतना तूल दे रक्खा है, क्या उद्देश्य हो सकता है? और मजा यह कि न तो हम इसकी प्रेरणा को बाद दे सकते हैं, न इसकी सृष्टि को। शिल्प का कोई अत्युत्तम निदर्शन हमारी आँखों के आगे आता है, हम मुग्ध हो जाते हैं। साहित्य का कोई मार्मिक स्थल हमारे अन्तर को छू लेता है, हम आनन्दित हो जाते हैं। तो क्या यही मान लिया जाय कि इस अनुभव और दर्शन में जो एक सूक्ष्म आनन्द है, 'साहित्य का मूल और महत् उद्देश्य इतना ही, सिर्फ यही है?

मरुभूमि में ओसिस जैसे एक शांति और विराम की जगह है, जीवन-संग्राम में जूझनेवालों के लिए साहित्य और कला ऐसी ही एक शीतल छाया समझी जाती है। दिन-रात रोटी के लिए लड़नेवाले मस्तिष्क की शिथिल नसों को साहित्य की शरण में शांति और स्फूर्ति दोनों ही मिलती हैं। दैनंदिन जीवन के कर्तव्यों का जहाँ जीवन पर शासन होता है, वहाँ मनुष्य की दासता है, दीनता है। दासता में न तो जीवन का सन्तोष है, न आनन्द ही। इसीलिए मनुष्य की श्रांत और ऊबी हुई चाह एक ऐसी दुनिया की ओर दौड़ती है, जहाँ कर्तव्य की कदर्यता नहीं, जहाँ वास्तव का वही बँधा-बँधाया निरानन्दमय वातावरण नहीं। जहाँ रिक्त, क्लांत और दग्ध हृदय को शांति

और सांत्वना मिलती है। यही दूसरी दुनिया है कल्पना की, जिसे हम एक अभिनव स्वर्ग भी कहते हैं। इस दूसरी दुनिया की शरण में आने का उद्देश्य चाहे एक हो, स्वरूप एक नहीं। कोई संगीत, कोई शिल्प, कोई साहित्य. इसी तरह प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी रुचि के अनुसार ही अपना आश्रयस्थल ढूँढ़ता है।

इंगलैंड के स्वनामधन्य साहित्यिक बर्नार्ड शा की एक किताब है—'टू ट्रू टु बी गुड'। उसमें की एक पात्री एक सेनाध्यक्ष से कहती है—"आश्चर्य है कि आप चित्र बनाकर अपना समय बर्बाद करते हैं !"

सेनापति ने उत्तर दिया—"काउंटेस, मैं चित्र सिर्फ इसलिए बनाता हूं कि मेरा दिमाग दुरुस्त रहे। इन औरत-मर्दों से व्यवहार करते तो मुझे ऐसा लगता है कि मैं पागल हो गया। सांत्वना के लिए जब-जब मैं मनुष्यों के पास गया, मुझे विफल-मनोरथ हो लौट आना पड़ा। परन्तु प्रकृति के निकट जाकर कभी लौटना नहीं पड़ा !"

फलतः इस दृष्टि से साहित्य की उपयोगिता क्लब से रत्ती भर भी ज्यादा नहीं। जैसे बच्चों के लिए मन बहलाने का साधन उनके खेल हैं, उसी तरह हमारे दिलबहलाव की सामग्री साहित्य है; क्योंकि कर्तव्य के कठोर आघातों से जर्जर प्राण नीरस वातावरण से जरा देर को साहित्य के आँगन में सुस्ता लेना चाहता है और वह आश्रय हमारी कल्पना की सृष्टि है, खयालों की दुनिया है, जो वास्तव में रहनेवाले लोगों के मन को दूर, बहुत दूर खींच लेती है।

एक बात और। इसे हम स्वभावगत नियम कहकर भी छुटकारा नहीं पा सकते। कला और साहित्य प्रकृति की नकल तो हर्गिज नहीं हो सकता। यह हमारा प्रकृति पर विजय प्राप्त करने का गौरव-केतन है, क्योंकि साहित्य में हम प्रकृति के स्वरूप को ही फिर से भाषा में नहीं व्यक्त करते। प्रकृति और हमारे मन के संमिश्रण से जो एक विशेष भाव-जगत् की सृष्टि होती है, साहित्य उसका स्वरूप है। यहाँ प्रकृति से हम बहुत ज्यादा पाते हैं, इस बात को अस्वीकार नहीं कर सकते, किन्तु प्रकृति को हम देते भी कम नहीं हैं, यह बात भी गौरव के साथ ही कहेंगे। प्रकृति फूल खिलाती है, उसे हम भाषा देते हैं। तारे चुप-चाप हँसते हैं, हम उनके हृदय को यहीं से टटोल लेते हैं; मानव के हृदय का जो कोना अतीत से भी अधिक अंधकारमय है, उसे हम प्रकाश में ले आते हैं। यही कारण है कि साहित्य को हमने इतना महत्त्वपूर्ण स्थान दे रक्खा है। स्वाभाविक गर्व से कवि ने कहता है—

वाणी तू ने दी, गान दिये मैंने
दो दिन का जीवन पाया
दी मैंने उसे अमरता
आया केवल अपना बन
जाता बन दुनिया भर का
तू मौत, मगर ये प्राण दिये मैंने !

अपनी प्राप्ति भर को ही लुटा सकता है, हम मानव प्राप्ति को सूद समेत लौटाते हैं। फलतः यह बात स्पष्ट है कि साहित्य-सृष्टि के मूल में इससे भी बड़ा कोई उद्देश्य है। हमारी जो स्थूल प्रयोजनीयता है, उससे चाहे साहित्य-सृष्टि का कोई स्पष्ट सम्बन्ध न हो, लेकिन साहित्य-सृष्टि का प्रयोजन है, यह हमें स्वीकार करना पड़ेगा।

सृष्टि के प्रारम्भ से ही मानव-अन्तर की एक व्याकुल प्यास है और वह प्यास है आत्म-प्रकाश की। इसी विकलता ने मनुष्य को आज विकास की इस चोटी तक पहुँचाया है। कथित और लिखित, दोनों ही प्रकार के साहित्य की जननी मानव की यही विकलता है। उस समय, जब मानव-मन के दर्पण में प्रकृति के अतुल सौंदर्य का प्रतिबिम्ब पड़ता था और हृदय के जारक-रस से उस अवस्था में जो भाव बनते थे, उनको प्रकाश में लाने का कोई साधन नहीं था, तो कितने विकल थे मनुष्य ! एक दूसरे के पास-पास होते हुए भी वे परस्पर दूर—बहुत दूर थे। इसके बाद अपने को दूसरों पर प्रकट करने के लिए मनुष्य ने भाषा बनायी। लेकिन, इससे भी उसे संतोष नहीं हुआ, क्योंकि इसमें आत्म-प्रकाश को व्यापक रूप नहीं मिलता था। वह कुछ ही लोगों और कुछ ही काल के लिए सीमित हो जाता था। इस अपनेपन या अहम् की भावना को दीर्घकालीन और बहुसंख्यक लोगों के लिए व्यापक बनाने की वासना से उत्पत्ति हुई साहित्य की। मनुष्य की अपने को प्रकाशित करने की वासना चिरंतन है। हमारा

यह साहित्य और कुछ नहीं, अपनी-अपनी सृष्टि द्वारा प्रत्येक मनुष्य का हृदय दूसरों में अपना विस्तार चाहता है, दूसरों के आगे अमरता की प्रार्थना करता है। साहित्य द्वारा जैसे वह कह रहा हो—अयम् अहं भोः—मैं यहाँ हूँ। चाहे जिस क्षेत्र में देखें, वहीं आपको यह मूर्तिमान अहम् मौजूद मिलेगा। वह हर रूप में स्वयं अपने को देखता है और दूसरों को दिखाता है।

हमारी हर सृष्टि में हमारे भीतर का 'हम' ही सिर उठाये विभिन्न मूर्तियों में खड़ा है। हमने स्वयं जो अनुभव किया, हमारी जो अपनी प्राप्ति है, उसे केवल अपनी ही बना कर रखना अपने को एक संकीर्ण परिधि में आबद्ध कर लेना है। इसीलिए मानव को यह काम्य नहीं। और उसे बहुतों तक पहुँचाने की प्रवृत्ति भी कुछ और नहीं, दूसरों के पास अपनी सत्ता की प्रतिष्ठा करना है। कभी अशोक ने पहाड़ों की चट्टानों पर अपने अत्यन्त प्रिय उपदेश इसीलिए खुदवा दिये थे कि उनके साथ-साथ युग-युग तक उनकी अपनी सत्ता भी कायम रहे। साहित्य या कला में मनुष्य के अपने सुख-दुःख ही स्थायी नहीं होते, उसका अन्तर, उसका मन भी अमर होकर रहता है। नील नदी के किनारे आकाश तक सिर उठाये एक-से सदा खड़े रहने वाले पिरामिड हमें उस अतीत युग का इतिहास कहते हैं। काल ने किसे साबित रहने दिया ? किन्तु मुमताज बेगम की स्मृति में खड़ा ताजमहल संसार को आज भी बादशाह शाहजहाँ की प्रेम-कहानी सुना

रहा है। कवि के शब्दों में—

तोमार दूत अमलिन
श्रांति - क्लांति - हीन
तुच्छ करि राज्य भांगा - गड़ा
तुच्छ करि जीवन मृत्युर ओठा-पड़ा
युगे - युगान्तरे
कहितेछे एक स्वरे
चिर-विरहीर वाणी निया
"भूलि नाइ, भूलि नाइ, भूलि नाइ प्रिया"

जीवन-मृत्यु, उत्थान-पतन सबको तुच्छ करता हुआ श्रांति-क्लांति-हीन अमलिन ताजमहल युगयुगान्तर से चिरविरही सम्राट् की वाणी का प्रचार कर रहा है कि प्रियतमे, मैं तुम्हें भूल नहीं गया हूँ।

यही कारण है कि विज्ञान के विकसित युग में, जब विश्लेषण की प्रवृत्ति प्रबल होती जा रही है, भावना की यह मंदाकिनी मंद नहीं होती। हम अपने भावों में अमर रहें, यही साहित्य की साधना है, यही कला-सृष्टि की तपस्या है।

हम ऊपर मन को प्रकृति का दर्पण कह आये हैं। साहित्य को भी जीवन और जगत् का दर्पण कहते हैं। बल्कि एक साहित्यिक ने तो साहित्य को जीवन कहा है। यहाँ एक बात याद रखनी चाहिये कि प्रकृति जिस रूप में साहित्य-साधकों के अंतर तक जाती है, उसी रूप में वह साहित्य में नहीं आ सकती। साहित्य एक तीसरी दुनिया है, जो मन की दुनिया

और बाहरी दुनिया के संघर्ष से बनती है। मैथ्यू आर्नल्ड के 'आर्ट इज़ दी थिंग्स व्हिच दे आर' का अर्थ बहुत बार लोग बिल्कुल उलटा लगा लेते हैं। वह वाक्य कुछ और अभिप्राय रखता है न कि यथायथ चित्रण का निर्देश करता है। अगर, दुनिया जैसी है, वैसा ही चित्रित करना साहित्य का उद्देश्य होता, तो प्रत्यक्ष दुनिया ही सब कुछ होती, नकली साहित्य का मूल्य क्या होता ? लेकिन वास्तव में बाह्य और आंतरिक दुनिया से जो एक तीसरा जगत् बनता है, वह रसमय होता है, इसीलिए आनन्ददायक भी। आनन्द का मूल रस ही है। इस रसमय जगत् का स्रष्टा है मन, जो कल्पना की रंगीन तूलिका से एक अभिनव जगत् का निर्माण करता है। इसी मन से हरेक की साधना का स्वरूप अलग-अलग हुआ करता है, जिसमें उसका व्यक्तित्व या 'अहम्' प्रकट होता है। मनुष्य का दैनंदिन जीवन और उसकी कल्पना की दुनिया, दोनों की थाह लेने पर सच्चे मनुष्य या वह मनुष्य क्या है, इसकी पहचान हो सकती है। ये दोनों ही बातें साहित्य में पायी जाती हैं, क्योंकि साहित्य मनुष्य की अपनी सत्ता को अमर बनाने का प्रयास है।

प्रगतिवाद का स्वरूप

सुनते हैं, बँगला के उपन्यास-सम्राट् बंकिम बाबू से उनके अन्तिम दिनों में किसी ने पूछा—अब आप उपन्यास क्यों नहीं लिखते? उन्होंने उत्तर दिया, उपन्यास अब क्या लेकर लिखा जाय! अब तो उसके उपकरणों का ही अकाल सा हो गया है। किन्तु हम साश्चर्य देखते हैं कि उस युगान्तरकारी कलाकार के बाद उसी भूमि में रवीन्द्र और शरत्-जैसे कला के जादूगर हुए और आज भी नवीन प्रतिभाओं के लिये उपादान का वैसा ही प्राचुर्य है।

आखिर क्यों? क्योंकि राजनीति की तरह विषय-वस्तु के नाम पर साहित्य में कभी 'डेडलॉक' उपस्थित नहीं हो सकता। साहित्य का आधार जीवन है। एक ओर संसार की अनन्त घटना-परम्परा है, दूसरी ओर है नित्य वैचित्र्यमय मानव-चरित्र। इन्हीं दो के घात-प्रतिघातों में जीवन है और वही काव्य, नाटक, उपन्यास आदि का उपकरण है। यह आशङ्का कदापि नहीं कि जीवन की यह तरङ्गित मन्दाकिनी कभी किसी मरुस्थल में अपना अस्तित्व खो देगी। साहित्य के लिए उपादानों की कमी का प्रश्न व्यर्थ है। सूर्य की शक्ति क्रमशः क्षीण होती आ रही है, संसार की खानों में कोयले का परिमाण कमता जा रहा है, वैज्ञानिकों की यह चिन्ता कदाचित्

निर्मूल न हो; परन्तु साहित्यकार के लिए प्रकृति तथा जीवन के अथाह सागर में भाव और विषय के मोती दुर्लभ न होंगे, बशर्ते कि साहित्यकार में प्रतिभा, अन्तर्दृष्टि और साधना हो।

वास्तव में साहित्य के लिए हमारा जीवन नहीं है, जीवन के लिए ही साहित्य-शिल्प है। जीवन का स्वाभाविक धर्म गतिशीलता है। सृष्टि-निर्माता ने जीवन के ऐसे पाँव दिये हैं और उन पाँवों में ऐसी गति दी है जो न थकने की है, न रुकने की। जीवन चलता है, इसीलिये युग और जगत् चलता है। जीवन की गति, उसकी साधना जब कोई विशेष रूप ले लेती है, तो नये युग का आविर्भाव होता है। कभी जीवन भी युग को बदलता है, कभी युग जीवन को। जीवन पर युग का प्रभाव होता है और युग के ललाट पर मानव के श्रम का टीका भी लगता है। फलस्वरूप साहित्य युग और जीवन के प्रभाव से अनुप्राणित भी होता है, युग और जीवन को अनुप्राणित करता भी है।

जो साहित्य निर्जीव काग़ज़ के पन्नों पर तैयार होता है, वह निर्जीव नहीं होता; उसमें युग-युग तक जीवन के प्राण बोलते रहते हैं। जिसमें यह स्थायित्व शक्ति और सजीवता नहीं, उसे हम साहित्य ही नहीं कह सकते। जीवन-यात्री के लिए साहित्य उसका पाथेय है, जो निरन्तर उसके साथ ही रहता है। जीवन और साहित्य के बीच कोई सीमा-रेखा नहीं। लोग साहित्य को जीवन का दर्पण मानते हैं, हम साहित्य को जीवन मानते हैं। अतएव हमारी तो व्यक्तिगत धारणा है कि

साहित्य के लिए प्रगतिशीलता का सवाल मूलतः कोई मूल्य नहीं रखता। प्रगतिशीलता का प्रश्न तो तब आ सकता है, जब हम जीवन को गतिशील न मानें। अन्ततः प्रगतिवाद में साहित्य का जो धर्म माना जाता है कि वह जीवन का अनुगामी हो, उसके अनुसार भी प्रगतिशीलता साहित्य का स्वभाव सिद्ध होती है। बल्कि एक विशेष गुण साहित्य का यह भी देखा जाता है कि वह जीवन का अनुगामी ही नहीं, नियामक भी है।

मानवी-सभ्यता के विकास के साथ ही कंधा मिलाये साहित्य भी बढ़ता रहा है। धर्म, राजनीति और सामाजिक व्यवस्था के एक नहीं, हजारों आन्दोलन हमारा साहित्य देख चुका है। ऐसे अनेक साहित्यिक आन्दोलन भी हो चुके हैं, जिनका सम्बन्ध सामाजिक या सांस्कृतिक प्रगति से रहा है और उन आन्दोलनों से किसी-न-किसी नवीन धारा को प्रोत्साहन मिला है। और तो और, हिन्दी साहित्य के पिछले तीस वर्षों के अन्दर ही नयी भाव-धारा की प्रतिष्ठा के कई आन्दोलन हो चुके, जो विभिन्न वादों के नाम से मशहूर हैं।

हमारी अपनी तो मान्यता है कि साहित्य के लिए प्रगतिशीलता कोई नवीन बात नहीं, न ही आज की बात है। पुरातन को बार-बार नया बना लेना ही साहित्य का शक्तिमन्त्र है, और युग को युग-युग का बना देना ही साहित्य का जादू है। अतएव आज साहित्य की जिस भाव-धारा को हम प्रगतिवाद कहते हैं, उसमें यदि ये गुण मौजूद हों तो वह न निस्सार है, न

त्याज्य। प्रगति वास्तव में नवीनता का पर्याय है, जिसकी मर्मवाणी विमल और उद्देश्य महत् होना चाहिए। नवीनता केवल एक नशा न हो, कि जैसे नवीनता के नशे में कभी योरॅप का साहित्य नष्ट हो गया। नवीनता से हमारा अभिप्राय सब प्रकार से उन्नति और कल्याण का ही है, इसलिये वह काम्य भी है।

प्रगति का मूल रहस्य यही है, इसमें मलिनता एवं संकीर्णता का स्थान ही नहीं। सामयिक उपादानों के अवलम्बन से ही साहित्य में अमरता और स्थायित्व नहीं आता, यह मानने की बात नहीं। यह तो साहित्यकार की प्रतिभा, योग्यता और अन्तर्दृष्टि पर निर्भर है। एक स्थान पर रवीन्द्रनाथ ने दिखाया है कि साहित्य के विषय-उपादान तो पुराने ही होते हैं। वे उपादान प्रतिभाशाली साहित्यकार से प्रार्थना करते हैं कि हे कवि, हे साहित्यिक, मुझ चिरपुरातन को तुम कल्पना के जादू से सर्वथा नवीन कर दो।

प्रगतिवादी साहित्य के ढाँचे में युग का रंग हो, उसकी हड्डी-पसली सामयिक तत्त्वों और वस्तुओं से चाहे तैयार हुई हो, पर उसके प्राण में नित्य सत्य की ज्योति और शक्ति आवश्यक है, इसी कारण साहित्य में उपादानों का उतना महत्त्व नहीं होता, जितना कि उसकी सार्थक संयोजना का। वह शक्ति आत्मा के अन्तरतम की वाणी है, जो सर्वार्पिता अनिन्द्य एवं सुन्दर संगीत है। प्लेटो ने माना है कि वह संगीत प्रत्येक हृदय में गुप्त है। साहित्य मानव-मन के इसी

सुप्त संगीत से आवेदन करता है। जिस रचना में उस सोये संगीत को आन्दोलित करने की क्षमता नहीं, उसे साहित्य की पंक्ति में तो हर्गिज जगह नहीं मिल सकती।

साहित्य के किसी भी प्रगतिशील आन्दोलन की अन्तःप्रेरणा अगर शाश्वत सत्य की उपेक्षा नहीं करती, तो वह बेशक स्थायी होती। नित्य सत्य की उपेक्षा करके वह बालू पर भीत खड़ा करेगा, पिरैमिड, बरबुदर या ताजमहल नहीं। सत्य-विरोधी सृष्टि विश्वामित्र की प्रतियोगिता वाली सृष्टि के समान भस्मसात् हो जाती है।

हम प्रगतिवादी आन्दोलन के उद्देश्य पर लांछन नहीं लगाना चाहते; उसके स्वरूप पर आपत्ति अवश्य है, और वह यह कि इस आन्दोलन का स्वरूप व्यापक नहीं, एकांगी है। यह आन्दोलन वर्गवादी है। समाज के शोषित वर्गों के प्रति सहानुभूति, सामन्तशाही से लड़ने के लिए विद्रोह की भावना तथा आत्मविश्वास को जगाना ही इसका उद्देश्य है। सामाजिक असमानता को दूर करना, पिसी हुई मानवता को मुक्त करने का प्रयास करना अपेक्षित है। ऐसी नवीनता, ऐसी क्रान्ति का उद्बोधन अधिकतर लोग चाहेंगे। किन्तु जहाँ प्रगतिवादी डिक्टेटर की तरह यह घोषित करते हैं, कि वामन के इन तीन पगों में ही त्रिलोक है, इस सीमा के बाहर साहित्य नहीं, तो आपत्ति उठ खड़ी होती है। वनवासिनी सीता की कुटिया में लक्ष्मण ने एक अनुल्लंघ्य रेखा खींच दी थी, ऐसी रेखा से साहित्य तो कुण्ठित हो जाता है। मनीषी रोम्याँ रोलाँ तक ने

प्रगतिवादी क्रान्ति के आदर्श को इतना संकीर्ण नहीं माना है। उन्होंने लिखा है, प्रगतिवादी क्रान्ति का आदर्श वर्ग विशेष का लाभ नहीं, वह पार्टी विशेष की सम्पत्ति नहीं। उसका ध्येय तो अन्तारराष्ट्रीय और शाश्वत होना चाहिए। क्रान्ति तो उन लोगों का महल है, जो मानवता का विकास चाहते हैं। यह तुम्हारा है, मेरा है, उसका है, सबका है। क्रान्ति का सत्य इसमें है कि जीवन की रेखाएँ ओझल न हो जायँ, उनकी गति अमर हो।

प्रगतिवाद पर नहीं, प्रगतिवादी आन्दोलन के वर्त्तमान स्वरूप पर ही कुछ विवेकशील व्यक्ति आशङ्कित हैं। कई अन्य वादों की तरह प्रगतिवाद भी विदेशी हवा के साथ आया है। वर्गवाद की संकुचित सीमा में साहित्य को निबद्ध करने की पहली प्रचेष्टा फ्रान्स की राज्यक्रान्ति के साथ हुई। वॉल्तेयर की कलम उस क्रान्ति की जननी थी। उस समय योरप में उस मनोवृत्ति का बड़ा व्यापक प्रसार हुआ। दूसरी बार रूस में जारशाही का अन्त करने तथा किसान और मजदूरों का राजनीतिक एकाधिपत्य स्थापित करने में इसको जो सफलता हुई, उससे समग्र संसार चकित ही नहीं हुआ, मुग्ध भी हो गया। पीड़ित भारत के लिए, जो सदियों से परतन्त्रता के कठघरे में बलिदान के बकरे की तरह तड़पता रहा, रूस की उस विजय में जनता से ज्यादा आकर्षण था। इसकी निर्वासित आत्मा ने उसी आदर्श में अपने कल्याण की किरण देखी। नवयुग की नानक देन से भारत भी तो वंचित नहीं,

तज्जनित सारी असुविधायें भी इसके हिस्से पड़ीं। यहाँ भी पूँजीवाद ने सुख-शान्ति के जन्मसिद्ध मानवी अधिकारों को वर्ग-विशेष की मुट्ठी में कर दिया। धन, बल और विद्या, तीनों समाज की एक श्रेणी विशेष की हो गयीं और उस श्रेणी के मुट्ठी भर लोगों के हाथ की कठपुतली करोड़ों करोड़ लोग हो गये। इसलिए भारत में भी प्रगतिवादी भावना का ईंधन एक प्रकार से जमा था, चिनगारी विदेश से आकर पड़ गयी। फ्रान्स और रूस के साहित्यकारों ने राजनीतिक तथा सामाजिक व्यवस्था के संस्कार में अपने जीवन की जिस साधना और तपस्या को संलग्न किया था, भारत के सामाजिक और राजनीतिक अभ्युत्थान के लिए यहाँ के साहित्यकारों का वही आदर्श हो गया।

वर्तमान प्रगतिवादी आन्दोलन को अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता, नवीनता वर्जनीय भी नहीं है। किन्तु हमारा मत-भेद वाद के वर्त्तमान स्वरूप से है, जिसे हम ग्रहण कर रहे हैं। साहित्य के दरबार में सभी वर्ग और श्रेणियों का समान महत्व है, इसमें सभी भावों एवं विषयों का सहज परिपाक हो सकता है। साहित्य की यह जो समन्वयशीलता है, इसको खण्ड-खण्ड करके देखने का कोई उपाय नहीं। साहित्य नीति नहीं, राजनीति नहीं, इतिहास नहीं; किन्तु साहित्य की परिपूर्णता में सब का अपूर्व समावेश है। साहित्य वास्तव में वह सागर है, जिसमें विभिन्न भावों की अनेकानेक धारायें आकर

मिलित होती हैं, फिर भी उनके रङ्ग-रूप और स्वभाव में कोई अन्तर नहीं आता।

प्रगतिवाद को वास्तव में राजनीतिक स्वार्थ-सिद्धि का एक साधन बनाया जा रहा है। इस भाव-धारा में एक यह भी मनोवृत्ति देखी जाती है कि प्राचीन को महज इसलिए बुरा कहो, क्योंकि वह प्राचीन है। वस्तुवाद और मनोविज्ञान के नाम पर यहाँ चाहे जैसे भी चित्र हों, क्षम्य माने जाते हैं। और प्रचार तो इसका लक्ष्य है ही। साहित्य से प्रचार भी होता हो, यह दूसरी बात है। पर साहित्य सिर्फ प्रचार है, यह तो बिल्कुल गलत है। ह्यूगो ने प्राणदण्ड की प्रथा के विरोध में साहित्य रचा, बर्नर्ड शॉ ने सामाजिक कुव्यवस्थाओं के मूलोच्छेद के लिए साधना की, प्रेमचन्द और गोर्की ने गरीबों की वकालत की, शरच्चन्द्र ने उपेक्षित नारी-जाति के लिए निर्मम संसार की आँखों में आँसू भर दिया—सब ठीक है, फिर भी साहित्य मात्र प्रचार नहीं है। इनकी रचनाओं में साहित्य के सत्य की उपेक्षा नहीं की गयी है। फ्रान्स की राज्यक्रान्ति के समय की साहित्यिक भाव-धारा अत्यधिक प्रचारित इसीलिए हो सकी कि वर्गवादिता के सिवाय उसमें मानवता के चिरन्तन आवेग भी थे, जीवन की गहरी अनुभूतियाँ भी थीं। वह केवल राजनैतिक प्रॉपेगैण्डा नहीं था। साहित्य राजनीति से और राजनीति साहित्य से प्रभावित हुआ करती है, फिर भी दोनों की अपनी अलग सत्ता है। राजनीतिक प्रचार का माध्यम बनाकर साहित्य को प्रगतिशील कहने वाले लोग साहित्य में

मन की अपेक्षा मस्तिष्क को, भाव की अपेक्षा बौद्धिकता को अधिक महत्व देने लगे हैं। पण्डित नन्ददुलारे वाजपेयी ने इसीलिए कहा है—"राजनैतिक प्रगतिशीलता का काम नुस्खों से चल सकता है, पर साहित्यिक प्रगतिशीलता जीवन की गहराई में प्रवेश किये बिना नहीं आ सकती। फल यह होता है कि राजनीतिक सिद्धान्तवादी अपने नपे-तुले नुस्खे न देखकर प्रौढ़, जीवनमय साहित्य का निर्माण करने वाले साहित्यिकों के प्रति नाक-भौं सिकोड़ कर साहित्य में जीवन के सन्निवेश की समस्या को गहरी गलतफहमियों में डुबा देते हैं।'

यों तो ऐसे साहित्यिक वादों के चरम पर पहुँचे बिना उनके हित-अहित का निश्चित रूप से निर्णय नहीं दिया जा सकता। फलतः कई लोग इसके विरोध का विरोध कर सकते हैं। किन्तु अन्य देशों में इस वाद के चरम विकास की जो चरम परिणति और प्रतिक्रिया हुई है, हमें उससे उदाहरण ग्रहण करना चाहिये। संघबद्ध साम्यवादियों ने प्राचीन-पन्थियों की साहित्य-साधना को कोसते हुए राजनीतिक जागृति और उत्थान के लिए जिस साहित्य की सृष्टि की थी, आज इस छोटी-सी अवधि में उसका युग लद गया। फ्रान्स और रूस के तत्कालीन साहित्य की स्पष्ट प्रतिक्रिया आज हमारे सामने है। वहाँ जन-कल्याणार्थ ही उपयोगी साहित्य रचा गया था, आज जनता स्वयं उससे भर उठी है और मुक्ति चाहती है। रूस में अब प्रोलेटेरियन साहित्य के विरुद्ध आन्दोलन भी शुरू हो गये हैं। अब वे प्राचीन युग की

सांस्कृतिक धारा के बचाव का प्रयत्न करते हुए कहने लगे हैं—"साहित्य राजनीतिक और सामाजिक क्रान्तियों के प्रचार का माध्यम नहीं, न ही विश्लेषण का आधार है। साहित्य का कार्य मानव-मन की सौन्दर्यमूलक प्यास और भावुकता की भूख को तृप्त करना है।"

जनसाधारण को समाज के आभिजात्य के प्रति कितना ही विद्वेप क्यों न हो, साहित्य की आभिजात्य-भावना के प्रति उनके हृदय में प्रेम तथा आसक्ति है। केवल बुद्धिवादी, प्रचारात्मक और शुष्क साहित्य से मानसिक भूख नहीं बुझ सकती। हम इसके लिए तर्क पेश कर सकते हैं, प्रमाण नहीं दे सकते। जिन साहित्यिक कृतियों को युग-युग की लोकप्रियता मिली है, वे वर्ग-विद्वेप की ज्वाला के पुञ्ज नहीं हैं, उनमें स्वाभाविक मानवी वृत्तियों का विकास है। होमर, तुलसीदास दान्ते, कालिदास, चाहे जिनकी अमूल्य कृति को लीजिए, उनमें आभिजात्य की बू मिलेगी; पर आप देखेंगे, जनता की उनमें अधिक रुचि है। संसार में प्रगतिवाद के फल-फूल भेजने वाले पेड़ का जहाँ जन्म हुआ, उस रूस में भी अब प्रेम और रोमांस का प्रेम बढ़ रहा है। जो प्रेम, सौन्दर्य और कल्पना से घृणा करते थे, उनके लिए विष उगलते थे, अब प्रेम करने लगे हैं। सौन्दर्य और प्रेम की भूख चिरन्तन है। नारी ही समाज का केन्द्र है, और प्रेम के बन्धन से ही मानव सामाजिक सम्पर्क में बँधा है। कला को 'समभाव के प्रचार द्वारा संसार को एक करने का साधन' मानने वाले

टॉलस्टॉय जैसे कलाकार ने भी 'अन्ना' जैसी नारी की सृष्टि की।

साहित्य में जो स्थान शोषकों का है, वही शोषितों का। कलाकृतियों के यथार्थ आनन्द का उपयोग भी दोनों वर्ग समान रूप से करते हैं। गोर्की की कृतियाँ—जिनमें समाज के शोषित, पीड़ित और तिरस्कृत जनता का मार्मिक क्रन्दन है, अभिजात वर्ग के प्रति एक तीव्र आक्रोश और क्षुब्ध विद्रोह है—अभिजात वर्ग के लोग आनन्द से पढ़ते हैं। इसी प्रकार अभिजात वर्ग के गुण-कीर्तनों वाले काव्य को साधारण जनता—जो उन्हीं के द्वारा शोषित और पीड़ित है—पढ़ती है और आनन्द पाती है। फलतः हम देखते हैं, साहित्य में ऐसी कोई रेखा नहीं, जो भावनाओं एवं तज्जन्य आनन्द को विभाजित करती हो। भावनाओं मे व्यक्तिगत जीवन की समस्यायें स्वतः लुप्त हो जाती हैं। गोर्की स्वयं अपनी रचनाओं को 'प्रोलेटैरियन लिटरेचर' कहने मे अपमान समझता था। बल्कि एकबार उसने रोम्यॉ रालॉ को इस आशय की चिट्ठी लिखी थी कि बालकों के मानसिक विकास के लिए यह आवश्यक है कि उन्हें बीथेवॉन और माइकेल एंजेलो की जीवनी पढ़ायी जाय। ये दोनों ही आभिजात्य भावों के शिल्पी थे। एक संगीतज्ञ, दूसरा चित्रकार। रोलॉ ने दोनों की जीवनियाँ लिखी थीं, बल्कि बड़े परिश्रम से उन्होंने यह भी सिद्ध किया था कि जनता आभिजात्य-भावमय रचनाओं को ज्यादा पसन्द करती है। रूस की जनता में इन दिनों रोमैण्टिक

कथा-कहानियों, प्रेम की कविताओं, आभिजात्य-भाव के नाटकों में ज्यादा उत्साह पाया जाता है।

वास्तव में हमारे व्यक्तित्व-बोध ने हमें इतना स्वार्थपर बना दिया है कि सामाजिकता छिन्न-भिन्न हो गयी है, जिससे हमारा समाज पंगु और शक्तिहीन हो गया है। मानवता या विश्व-बन्धुत्व ही साहित्य का लक्ष्य है। इसी क्षेत्र में विश्वमानव का मिलन - तीर्थ तैयार हो सकता है। किन्तु वह तीर्थ वर्ग-विद्वेष से नहीं, प्रेम और सौन्दर्य से ही प्रतिष्ठित हो सकता है।

हो सकता है, व्यक्तित्व की साधना समाज के लिए हानिकर हो, पर साहित्य के लिए उसकी उपयोगिता निर्विवाद है। मनुष्य यों व्यष्टि भी है और समष्टि का अंश भी। समाज के लिए समष्टिवाद का जैसा महत्व है, साहित्य 'क लिए व्यक्तिगत चेतना का उतना ही मोल है। व्यक्तिगत सुख-दुख की अनुभूति के बिना प्रेम और रोमांस की कल्पना सम्भव नहीं।

कवि पन्त की राय में प्रगतिवाद उपयोगितावाद का ही दूसरा संस्करण है। उपयोगितावाद और वस्तुवाद का विवाद साहित्य में बहुत दिनों से है, किन्तु इस मठे को मथकर मक्खन नहीं मिल सकता। मनुष्य जरूरतों के हिसाब से इस बात का आदी हो गया है कि वह उपयोग में आनन्द और आनन्द में उपयोग ढूंढ़ ले। इसलिए प्रगतिवाद को उपयोगितावाद का दूसरा रूप कहना युक्तिसंगत नहीं। प्रगतिवाद का अर्थ

बहुत व्यापक और उद्देश्य बहुत महत् है, किन्तु अभी इसमें उच्छृङ्खलता ही प्रधान है; इसमें हमारे भाव और विचारों का असंयम, मन और मस्तिष्क का उन्माद ही व्यक्त हो रहा है। हमारी अत्याधुनिक साहित्यिक प्रवृत्ति विदेशी नकल भर है। बँगला साहित्य सम्मेलन की काव्य-शाखा के सभापति की हैसियत से अभी-अभी श्री सजनीकान्त दास ने इसके बारे में कहा था—"साहित्य की यह अति-आधुनिकता एक प्रकार की साहित्यिक महामारी है, जिससे साहित्य-विटप के मूल-फूल में घुन लग रहा है, उसके विनाश में और अधिक विलम्ब नहीं। इस अति-आधुनिकता का लक्षण है : विवशता और अक्षमता; एक अपवित्र मनोवृत्ति, एक उद्दाम अनाचार वंग-सरस्वती को आभरणहीन, विवस्त्र और विकलांग करने का प्रयास कर रहा है।" हिन्दी की इस अति-आधुनिकता की बाबत लगभग यही बात कही जा सकती है। प्रगतिवाद से साहित्य या जन-कल्याण की साधना अगर सम्भव भी हो, तो उसके आज के स्वरूप से तो हर्गिज नहीं। डा० रामकुमार वर्मा के शब्दों में—"हमारे नवीन लेखकों ने गतिशीलता के नाम पर जो उच्छृङ्खलता पृष्ठों पर रख दी है, वह हमारे जीवन की नैसर्गिक गतिशीलता से दूर जा पड़ी है। किसान और मजदूर की परि-स्थितियों का सौ बार नाम लेकर भी हमारे साहित्यकार हमें इस क्षेत्र में आगे नहीं बढ़ा सके हैं। उनका चिन्तन-पक्ष जितना ही दुर्बल है, भाव-पक्ष उतना ही निकृष्ट।"

देश की वर्तमान परिस्थिति के लिए इस वाद में आशा के अंकुर हैं, किन्तु वाद के वर्तमान स्वरूप में शक्ति और उपयोगिता का अभाव है, जिससे इस पर भरोसा नहीं हो सकता। एक बात की आशा हम कर सकते हैं, वातावरण में जब विषम उद्वेलन होता है, मन मस्तिष्क में प्रबल आवेग होता है, तो महान् साहित्यकारों का उदय होता है। प्रगतिवादी भाव-धारा को यदि एक ऐसी प्रतिभा मिल जाय, जो इस क्रिया को नियमित, साकार और सार्थक कर दे, तो इससे कल्याण हो सकता है। हो सकता है संक्रान्तिकाल की ये भ्रान्त और असंयत प्रारम्भिक धारणायें ठोस आधार पाकर स्वच्छ और गतिमान हो उठें। धर्म की हानि होने पर अवतार होते हैं; देश में क्रान्ति होती है, तो शक्तिशाली नेता जन्म लेते हैं और साहित्य के विप्लव-काल में नवीन दार्शनिक मत की सृष्टि होती है। इसी से क्रान्ति का नियन्त्रण होता है। साहित्य में जब व्यक्ति-स्वातंत्र्य की समस्या उठी, तो नीत्शे का दर्शन सहायक हुआ; रोमैण्टिक युग को फिक्ते, शेलिंग और हैगेल के मत का सहारा मिला; मार्क्स के साम्यवाद को कैंट के दर्शन ने जीवन दान दिया। प्रगतिवाद के लिए भी ऐसी ही एक दार्शनिक पृष्ठभूमि की अपेक्षा है।

जिस प्रकार मानव किसी भी जाति या वर्ग का हो मानवता उसका धर्म है, उसी प्रकार साहित्य को चाहे जिस वाद के अन्तर्गत मानें, वह अपने चिरन्तन रूप और आदर्श

से मुक्त नहीं हो सकता। और, प्रगतिशील साहित्य को भी अपने चिराचरित कुल-धर्म का ध्यान होना ही चाहिए। इस धर्म की तीन प्रमुख धारायें हों—जीवन के प्रति आस्था, समय और स्थिति के अनुसार समस्याओं का सरल समाधान करते हुए जीवन-निर्माण तथा विषय-वस्तु का जीवन्त एवं कलात्मक रूप-विधान। इन तीन सूत्रों के बिना साहित्य की सफलता और समृद्धि सम्भव नहीं।

प्रेमचन्द और उनकी कला

हम एक ऐसे जमाने को छोड़ आये हैं, जब कला की सीमा अत्यन्त संकीर्ण थी और उस तंग दायरे में साहित्य तथा संगीत को भी प्रवेश करने का अधिकार प्राप्त नहीं था। अर्थात् कला साहित्य और संगीत से पृथक और स्वतंत्र वस्तु मानी जाती थी; अथवा कला के अन्तर्गत उपर्युक्त दोनों विषयों की गिनती नहीं थी। परन्तु आज कला एक ऐसा विषय बन बैठी है कि ऐसी बातों ही का अभाव-सा है, जिनमें कला की मौजूदगी न हो। जिस किसी भी विषय में मानव-मन को आकर्षित कर लेने की कोई खूबी दिखायी पड़ती है, उसे मोहित कर लेने वाले अज्ञात आकर्षण के सौन्दर्य को सम्पूर्णतया हृदयंगम करने के लिए हमें एकमात्र कला की शरण लेनी पड़ती है। यानी हम उस सुन्दरता से परिचित होते हैं कला के नाम से, बशर्ते खूबी या सुन्दरता स्वाभाविक न हो कर मनुष्य की सृष्टि हो, उसमें मानव का कर्तृत्व हो। आज साहित्य श्रेष्ठ कला का अन्यतम प्रतीक है। ललित कलाओं में जिन विषयों का उल्लेख है, उत्कृष्टता के लिए उनमें सर्व प्रथम स्थान है साहित्य का। श्रेष्ठता का यह सौभाग्य साहित्य को कभी काव्य द्वारा उपलब्ध हुआ था। आधुनिक युग में तो कला की दृष्टि से साहित्य का प्रत्येक अंग इक्कीस है।

पर उपयोगिता के अनुसार कथा ने सबसे बाजी मार ली है।

आज की दुनियाँ में कथा साहित्य का प्रमुख अंग बन चुकी है। इसकी समुचित उन्नति के बिना साहित्य कतई अपूर्ण रह जाता है, उसका महत्व ही जाता रहता है। समस्त संसार के साहित्य कथा की सफलता के साक्षी है। और हकीकत में होना भी यही चाहिये। मनोभावों का मार्मिक व्यक्तीकरण ही साहित्य है और जितने ही अधिक मनुष्यों की स्नेह-सहानुभूति वह अर्जित कर सके; उनकी सफलता और सुन्दरता उतनी ही प्रमाणित होगी। साहित्य-सृष्टि की प्रचेष्टा अन्य कुछ नहीं, मानव-हृदय की तीव्र अनुभूति संसार की संवेदना की प्रार्थना करती है, आत्मा, आत्माओं से साहानुभूति की भीख माँगती है। फलतः कथा मानुषी भावों की वह सरस सुन्दर अभिव्यंजना है, जो सहज ही मानव-हृदय की सहानुभूति पा लेती है और जिन लेखकों की कृतियाँ इस कसौटी पर खरी उतरें, वही सफल कलाकार हैं। कथा इसी कोटि का साहित्य-है, जिसे अधिक लोगों की सहानुभूति अनायास ही अपनी सरल सुन्दरता पर मिल जाती है। वर्त्तमान युग में कर्म का कोलाहल है। समयाभाव के कारण मनुष्य साहित्य की गम्भीरता की थाह लेना पसन्द नहीं करता, अथवा उसे चीजें भी एसी ही भाती हैं, जिनमें मानव-जीवन की सूक्ष्म आलोचनायें हों, जीवन की विशेष परिस्थितियों के सुन्दरतम चित्र हों, इन गुणों का एक साथ कहीं समावेश है, तो कथा में। यही कारण है कि कथा में श्रेष्ठ कला की भी स्थिति है।

हिन्दी-साहित्य के इसी महत्वमय अंग की पूर्ति के लिए प्रेमचन्द ने भरसक चेष्टाएँ कीं; और उनकी सफलता के लिए इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि यदि हिन्दी से उनकी कृतियाँ उठा ली जायँ, तो इसमें कुछ रह ही न जाय। लिखना और सफल होना दोनों का सम्बन्ध बहुत दूर का है। हमारी दृष्टि से प्रेमचन्द उतने ही सफल हुए हैं कि उनकी कलामयी कृतियाँ विश्व-साहित्य में सादर स्थान प्राप्त कर सकती हैं और प्रेमचन्द का स्थान भी विश्व-साहित्य के श्रेष्ठ कलाकारों की कोटि में है। प्रेमचन्द की असामयिक मृत्यु पर अत्यन्त खेद प्रकट करते हुए विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ने कहा था, 'प्रेमचन्द' की कृतियाँ प्रान्तीयता की सीमा पार कर गयी हैं। वस्तुतः प्रेमचन्द हिन्दी माता के ऐसे लाड़ले थे कि उनकी सतत सेवा से संसार के सामने हिन्दी का मुख उज्ज्वल हुआ। हिन्दी को यह गौरव दिलाने का श्रेय एकमात्र उन्हीं को है कि उनकी कृतियाँ न केवल देशी भाषाओं में, प्रत्युत, विदेशों की भी विभिन्न भाषाओं में अनूदित हुईं। हिन्दी में सर्व-प्रथम उनकी कहानियों का संग्रह 'सप्तसरोज' के नाम से निकला था। हिन्दी पुस्तक एजेंसी के संचालक महोदय की एकान्त प्रेरणा पाकर उन्होंने सातों कहानियाँ हिन्दी-भाषा (उर्दू अक्षर) में लिखी। प्रकाशित पुस्तक की एक प्रति जब बंगला के औपन्यासिक सम्राट् शरत-चन्द्र चट्टोपाध्याय के पास भेजी गई तो उन्होंने लिखा, रवि बाबू की बात जुदा है, मगर कथा-साहित्य में प्रेमचन्द का स्थान बहुत ऊँचा है।

प्रेमचन्द सफल कलाकार तो थे ही, वे हिन्दी के प्राण भी थे। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के पश्चात् हिन्दी साहित्याकाश किसी की निर्मल ज्योति से समुद्भासित हुआ, तो वह चाँद प्रेमचन्द थे। उन्होंने हिन्दी के प्रवाह में नए वेग का संचार किया, उसमें नई जान फूँकी। हिन्दी ने अपनी आत्मा को पहिचाना महज उन्हीं की अपूर्व प्रतिभा की बदौलत। उनके पहले हिन्दी अनाथ की नाईं पराये टुकड़ों के भरोसे चला करती थी; पर प्रेमचन्द के उदय होते ही इसकी आत्मा उल्लसित हो उठी, इसमें नई ज्योति, नूतन स्फूर्ति एवं नवीन जीवन का संचार हुआ। वह आदर्श-विधायक और नवयुग के प्रवर्तक थे। खेद है कि उनकी सेवाओं से हिन्दी जितनी गौरवान्वित हो सकी, हिन्दी से उन्हें उतना गौरव प्राप्त न हो सका। अपने जीवन-काल में उन्हें उपेक्षा और अवहेलना से कुछ अधिक हासिल न हुआ। उनके जीवित रहते हुए हमने उनका मूल्य न समझा; उनकी प्रतिभा को न पहिचाना, उनकी यथोचित कद्र न की। उनके तिरोधान के बाद से हिन्दी वाले समझ रहे हैं और खूब समझ रहे हैं कि हिन्दी ने एक ऐसी निधि को खो दिया है कि निकट भविष्य में उसकी पूर्ति की सम्भावना नहीं। अब उनकी अश्रुमय याद ही हमारे लिए सब से बड़ा सम्बल है। प्रेमचन्द जी स्वयं एक बहुत बड़े आशावादी थे। महाकवि मैथिली शरण की स्वर्णजयन्ती की तैयारी पर उन्होंने कहा था, "क्या ५० वें वर्ष में जयन्ती मनाना भी कोई तुक है? कम से कम ७० वरस तक तो इन्सान को जिन्दा

रहना ही चाहिये।" ऐसे व्यक्ति की कोई महान् अभिलाषा आशा के मारे अधूरी रह गयी हो, तो ताज्जुब क्या? हमारा तो विश्वास है कि इसके अनन्तर उनको जो भी चीज जनता के सामने आती, सब से सुन्दर आती। हमारे लिए अब विवशता जनित सन्तोष इतना ही है कि जिन फूलों से उन्होंने साहित्य-माता के चरणों में अपनी श्रद्धा-भक्ति अर्पित की, हमें उन्हीं पर नाज है।

कला की आलोचना के लिए यह अत्यावश्यक है कि पहले उसके स्वरूप को विवेचना कर ली जाय। यों तो कला की कोई बँधी हुई व्याख्या नहीं, परन्तु यह युग ही परिभाषा का है। अतः साहित्य की भाँति कला की भी विद्वानों ने विभिन्न परिभाषाएँ दी हैं। नाना मुनियों के नाना मत हैं। हम तो अपने विचार से उनमें सम्पूर्णता नहीं पाते। व्यक्तिगत विचार से कला के व्यापक स्वरूप पर आघात-सा पड़ता है। यथार्थ में कला उस सुन्दरता का नाम है, जिसे मुग्ध-मानव हृदय की बधाई मिल जाती है। कोई वस्तु जब हमें मुग्ध कर लेती है तो उस अज्ञात आकर्षण के मोहक सौंदर्य को हम कला के नाम से अभिहित कर लेते हैं; कला का कोई क्लास और दर्जा नहीं। क्योंकि प्रत्येक प्रकार की कला पूर्ण होती है। इसी पूर्णता के नाते उनमें आदर्श और स्वरूप की भिन्नता नहीं होती। कला की अभिव्यंजना जिस प्रकार की वस्तु के सहारे हो, उस वस्तु के अनुसार कला का तौला जाना सर्वथा अनुपयुक्त है। वस्तुगत सौंदर्य अथवा वस्तु के आकार-

गत सौंदर्य से ही यदि कला को उत्कृष्टता या निकृष्टता की जाँच की जाय, तो यह उसके साथ अन्याय करना होगा। कला प्रकृति नहीं है, उसे अनुकूल बनाने की चेष्टा करते हुए मनुष्य उसे जो सुन्दर रूप देता है, उसका नाम है कला। कला मनुष्य की सृष्टि है—उसमें आत्मा की ज्योति, हृदय की सुन्दरता, जीवन की छवि प्रतिफलित होती है। इसी में कला है न कि उस वस्तु में। इस कारण वस्तु, जिसे पाकर कला व्यक्त होती है, पर कला का विचार अवलम्बित नहीं। वह तो आत्मा की संगीतमयी छवि है। एक बात और। कला का मूल है मनुष्यों की सौन्दर्य-भावना। देश, काल तथा परिस्थिति के अनुसार इनमें महान् पार्थक्य होते हैं, परन्तु वास्तव में कला देश-काल से परे है। जंगली व्यक्ति अपनी सुन्दरता की अभिवृद्धि के लिए जिन साधनों को उपयोग में लाते हैं, हो सकता है, सभ्य मनुष्यों के लिए वे हेय और त्याज्य हों, परन्तु उनके मूल में जो भावना विद्यमान होती है, वाह्य स्वरूप में जमीन आसमान का अन्तर होते हुए भी वे एक-सी हैं, उनका मूल्य एक समान है। इसीलिए सब प्रकार की कला समान है, न कोई किसी से उत्कृष्ट है, न निकृष्ट।

कला अन्तर्वृत्तियों की सुन्दरतम अभिव्यक्ति है, लेकिन मनुष्य मात्र की अंतर्वृत्तियों में एकरूपता नहीं होती। देश, काल, परिस्थिति की वजह से उनमें पार्थक्य स्वाभाविक है। अतएव व्यक्ति विशेष के अनुसार कला भी विशेष रूप में सामने आती है। कोई भी मनुष्य तन, मन, विचार,

सब प्रकार से दूसरे से सर्वथा भिन्न है। एक के विचार, दृष्टिकोण किसी भी हालत में दूसरे से नहीं मिल सकते। इन्हीं कारणों से कला में व्यक्तित्व की छाप होती है, यानी प्रत्येक प्रकार की कला में कलाकार की अपनी आत्मा, अपना प्राण, प्रतिबिम्बित रहता है। उसे सुगमतया समझने के लिए, उसकी सफलता का परिचय पाने के लिए प्रथमतः हमें कलाकार को व्यक्तिगत रूप में जान लेना अनिवार्य है। कला की आलोचना के लिए सब से पहले हम कलाकार की आत्मा से परिचित हो लें, देखें, कि संसार पर कलाविद का किस हद तक अधिकार है, उसने संसार को किस रूप में देखा एवं संसार के कैसे रूप की उसे इच्छा थी। इन बातों को जान लेने पर उसकी कला का सौम्य स्वरूप, उसका सारा रहस्य, हमारे सामने सरलता से प्रतिभासित हो उठेगा।

यह निर्विवाद सत्य है कि कलाविद के साथ रहने की अपेक्षा उसकी कृतियों से घनिष्ठता बढ़ा कर हम उसकी आत्मा के अधिक निकट पहुँच सकते हैं; उसके स्वभाव, उसकी अभिलाषा एवं उसके मनोभावों से अधिक परिचित हो सकते हैं। क्योंकि उसकी कृतियाँ उसी के अन्दर के आवेगों, उसकी मनोगत भावनाओं की जीती-जागती तस्वीर होती हैं।

कथा के प्रमुख दो भेद हैं, कहानी और उपन्यास। प्रेमचन्द ने सैकड़ों कहानियाँ और लगभग एक दर्जन उपन्यासों की रचना की। और सब के सब उत्तम कोटि की रचनायें हैं, उनमें मानव-जीवन को विभिन्न अवस्थाओं का इतना

सुन्दर विश्लेषण है कि हृदय बरबस वाह कर उठता है। क्या कथा-वस्तु, क्या पात्र और क्या रचना-कौशल, सब एक से ही सुन्दर हैं। कथानक अत्यधिक आकर्षक, पात्र इतने सजीव और स्वाभाविक बन पड़े हैं कि हम उन्हें अपने ही पुरा-पड़ोसियों में गिन लें तो अत्युक्ति नहीं। कला—साहित्य-कला—के लिए रचना-कौशल एक अतीव आवश्यक वस्तु है। कहानी में काव्य की माधुरी, नाटक की गति और उपन्यास का सौंदर्य अनिवार्य है एवं एक निश्चित आकार में। उपन्यास की तरह उसमें विस्तार की स्वतंत्रता नहीं और न एक से अधिक घटनायें ही अभीष्ट हैं, प्रेमचन्द ने दोनों प्रकार की कथा में अपनी अद्भुत प्रतिभा का परिचय दिया है। भाषा-शैली तो उनकी-सी अन्यं ढूँढ़े नहीं मिलती। आकर्षण और मोहन दोनों ही शक्तियाँ परस्पर आगे बढ़ने की होड़-सी कर रही हैं।

अब रही कृतियों की आत्मा की बात। प्रेमचन्द की रचनाओं में सर्वत्र हम दीनता का हाहाकार, बेबसी की तड़पन पाते हैं। समाज की नृशंसता, अमीरों की अमानुपिकता को दर्द भरी कथा उन्होंने मार्मिक रूप में लिखी। सबसे बड़ी विशेषता उनकी यह पायी जाती है कि अतीत के अनावश्यक गौरव से दूर रह कर वर्तमान में वे व्यस्त हैं और भविष्य की उन्हें चिन्ता है। सहृदय व्यक्ति के लिए यही स्वाभाविक भी है। देश की वर्तमान अवस्था से वे दुखित थे, व्यथित थे और उसकी अंतरात्मा में जागृति के कोमल संगीत के संचार के

लिए सौ जान से फिदा थी। इसीलिए उनकी सहानुभूति का निर्मल सोता ग्रामीणों के दयनीय जीवन, उनकी टूटी-फूटी मँड़ैया पर तहे दिल से टूट पड़ा है। लांछित विधवाओं, नीचतम वेश्याओं के प्रति उनका आदर और स्नेह अपार था। उनकी कृतियों में प्रतिध्वनित है प्रबल रूप में एक ही बात, हम यह हैं, लेकिन हमें होना ऐसा चाहिए। पीड़ित दलित वर्ग की ओर से उन्होंने प्रेमपूर्ण वकालत की है और उन्होंने मनुष्यता के उद्बोधन के लिए महत्त्वाकांक्षाओं का निरूपण किया है।

अब यह कहने की आवश्यकता नहीं रह जाती है कि प्रेमचन्द आदर्शवादी (आइडियलिस्ट) थे। लेकिन उनके आदर्शवाद को हम केवल आदर्शवाद न कह कर अभिनव आदर्शवाद कहेंगे। क्योंकि कला द्वारा अपने जिन महत् आदर्शों की उन्होंने प्रतिष्ठा की, उनमें यथार्थवाद (रीयलीज़्म) की वे सम्पूर्णतया अवहेला न कर सके। साहित्य जीवन और समाज का इतिहास से भी सच्चा मित्र है। मनुष्यों की जो सरस भावनायें साहित्य में स्थान ग्रहण करती हैं, उनकी उद्भावना होती है हृदय और बाह्य दुनिया के सुन्दर सम्मिलन से। इसीलिये कल्पना यथार्थ की सम्पूर्णतया उपेक्षा नहीं कर सकती है, और यदि करती है, तो साहित्य सुरुचि सम्पन्न नहीं हो सकता। साहित्य से सुनीति की अपेक्षा सुरुचि की अधिक आशा हम करते हैं, इसलिये केवल कल्पना प्रसूत होने से स्वाभाविकता उसमें आ ही नहीं सकती। परन्तु प्रेमचन्द

की कृतियों में हम इन दोनों का गौरवमय सहयोग पाते हैं। आदर्शों के प्रतिष्ठाता होते हुए भी उन्होंने दोनों का निर्वाह बड़ी खूबी से किया। किसी विद्वान् के मतानुसार उपन्यास अपने समाज की अवस्था का सहानुभूतिपूर्ण अनुशीलन है। प्रेमचन्द की रचनाओं में हम इस आदर्श को कूट-कूट कर भरा हुआ पाते हैं। मानव-जीवन एवं उसके विविध पहलुओं का जितना गहरा अध्ययन प्रेमचन्द का था, उतना कम ही व्यक्तियों का हुआ करता है। उन्होंने जिन चरित्रों की सृष्टि की है, वे न तो पशु और न देवता के रूप में हमारे सम्मुख उपस्थित हैं, बल्कि उपस्थित हैं सब प्रकार से मनुष्यों के रूप में। उनके पात्र सजीव और सुन्दर होते हैं, इसी दुनिया में से कोई। उनमें स्वाभाविकता की सीमा का अतिक्रम नहीं, वे सजीव सुन्दर हैं। उनमें उत्थान-पतन का रूप स्वभावतया समन्वित है, दुख-सुख के दारुण आक्रमण से उनमें स्वभाव-जात प्रवृत्तियों का पारस्परिक द्वन्द्व है, मनुष्योचित दुर्बलताओं को भी महत्त्वाकांक्षाओं पर विजय है। मानसिक वृत्तियों के पारस्परिक संघर्ष और जय-पराजय की इतनी सजीव, ऐसी स्वाभाविक और इतनी अधिक सुन्दर तस्वीर बहुत कम लेखकों की कृतियों में पायी जाती है।

चरित्रों के विषय में प्रेमचन्द के निम्नोक्त विचार मननीय हैं; चरित्रों को सजीव और स्वाभाविक बनाने के लिए यह आवश्यक नहीं कि वे निर्दोष और निष्कलंक हों। ऐसा चरित्र मनुष्य नहीं, देवता बन कर रह जाता है। हम फिर उन्हें

आलोचना के तराजू पर नहीं तौलते, वे आलोचना के क्षेत्र से बाहर हो जाते हैं। चरित्र वही सुन्दर और आकर्षक होता है, जिसमें गुण और दोष दोनों ही हों; जिसकी जगह पाठक अपने को रख सकें, जिसे वह अपना ही-सा एक मनुष्य समझ सके, उसके कृत्य ही दिखा कर संतुष्ट नहीं हो जाना चाहिए। यह तो उसका बाह्य रूप ही होगा। हमें उसके हृदय के अन्दर बैठने और उसके कृत्यों के उद्गम की खोज करनी चाहिए।

इसी विवेकशीलता के कारण उनके चरित्रों में मुग्धकर जीवन-ज्योति है, स्वाभाविकता है। उन्होंने मनुष्य को मनुष्य के रूप में देखा, दुनिया को दुनियावी दृष्टि से देखा। फलतः उनका साहित्य कभी उनके समय का अतीव सुन्दर इतिहास भी होगा। उन्होंने दिखाया, दुनिया ऐसी है, साथ ही उनकी एक विशेषता उनके प्रत्येक भाव के साथ छाया की तरह लगी रही कि दुनिया को, जीवन को होना ऐसा चाहिए। उनका निरीक्षण गहरा था और भविष्य की चिन्ता भी उनकी अतीव सुन्दर थी। देश की तत्कालीन अवस्था का अनुशीलन उन्होंने अपनी आत्मा से किया तथा सहानुभूतिपूर्ण हृदय में उन निरीह प्राणियों को स्थान दिया, जिनकी मनुष्यता समाज से तिरस्कृत थी, जिनकी आभ्यन्तरीण दिव्यता भूगर्भ के रत्नों की तरह समाज की पर्यवेक्षण - शक्ति से दूर थी। उन्होंने उस सरलता, जिसे दुनिया मूर्खता के नाम से पुकारती है, के अन्दर की दिव्य छवि का स्वरूप देखा,

उसकी आत्मा को अपनी आत्मा से परिचित करा कर उन दलित आत्माओं को संसार की सहानुभूति का हक़दार बनाया। उनकी कृतियों में अहरह उनके अन्तर का एक अत्यन्त मूल्य-वान आवेदन प्रतिध्वनित है, कि अपने ही में व्यस्त दुनिया, जरा इन पहलुओं को भी देख! तात्पर्य यह कि उन्होंने न केवल सुन्दर साहित्य निर्माण किया, अपितु साहित्य-निर्माताओं के लिए भी एक नई राह प्रशस्त कर दी। साहित्य की उन्नति, सर्वांगपूर्ण उन्नति, के लिए उसमें सभी प्रकार के जीवनों का विश्लेपण अनिवार्य है। हिन्दी-गगन में प्रेमचन्द के आविर्भाव के पूर्व साहित्य में ऐसे जीवन की आलोचनाओं का अभाव था।

एक आवश्यक प्रश्न। प्रेमचन्द का अभिनव आदर्शवाद क्या कला के आदर्श के अनुकूल है, उसके उद्देश्य का विरोधी तो नहीं, वह औचित्य की सीमा तो नहीं पार कर गया है? इसके लिए कला पर प्रेमचन्द के आदर्शवाद को हम पहले जान चुके हैं। कला को वह लक्ष्यहीन नहीं मानते थे। कला से देश और जाति का जागरणमय उत्थान, मनुष्यता की कल्याण-कामना, मानव-हृदय की महत्वाकांक्षाओं के उद्बोधन ही का वह प्रतिपादन करते थे। कला के सम्बन्ध में उनकी राय थी, वह कला, कला ही नहीं, जो मनुष्यता को महत्ता में सहायक नहीं। जो हमें ऊपर की ओर न ले जाय, वैसी कला की कौन-सी उपयोगिता है?

इसी आदर्श पर हम से उनका मतभेद है। हम न तो सम्पूर्णतया इस मत के पृष्ठपोषक हैं और न कला पर हमारी ऐसी ही धारणा है कि सुनीतिपूर्ण कृतियाँ कला का निदर्शन नहीं। इसीलिए कला हम मानव के कृतित्व जनित एक ऐसी सुन्दरता को मानते हैं, जो सुन्दर हो, हमें आकर्षित करे, मुग्ध करे। यह सुन्दरता अगर सुनीति के साथ ही उसमें अधिक खिले, तो सोना में सुगंध है। लेकिन कला को एक अत्यन्त संकीर्ण बेड़ी में आबद्ध कर देना हमारे विचार से उपयुक्त ही नहीं, अन्याय है। कला का सब से बड़ा उद्देश्य सुन्दर होना है। हो सकता है, उसमें सुनीति भी हो, नहीं भी। अगर सुनीति ही उसकी एकमात्र सबसे अच्छी कसौटी हो जाय तो कला से हम मनुष्य को नहीं पहचान सकेंगे, मानुषी भावों का परिचय हमें नहीं मिलेगा। दुनिया और मनुष्य क्रमशः स्वर्ग और देवता हो जायेंगे। कला को स्वाभाविक रूप से खिलने देना ही उत्तम है। सुनीति के समावेश के लिए अस्वाभाविक रूप से यत्न होना अनुचित है

अपने इसी आदर्श विचार के कारण प्रेमचन्द की कृतियों में एक-आध चरित्र ऐसे मिलते है, जो हमें मनुष्य से नहीं प्रतीत होते। स्त्रियों को कलाविद की ऐसी ही सहानुभूति प्राप्त हुई है कि उनमें पतन का रूप किंचित मात्र भी परिलक्षित नहीं होता। कला के लिए यह एक दोष है। कला का धर्म मनुष्य को सर्वांगपूर्ण मनुष्य के रूप मे पेश करना है। मनुष्य जीवन के लिए अंधकार-आलोक का समन्वय, उत्थान-पतन, महत्वकांक्षा

और दुर्बलताओं का सम्मिलन काम्य है। इसके बिना मनुष्य का सम्पूर्ण रूप सामने नहीं आयगा। ऐसे आदर्शों की स्थापना के लिए कलाविद की अभिलषित सहानुभूति जिस चरित्र का अनुसरण करती है, साधारणतया वह चरित्र मनुष्यता के बजाय देवत्व पर उपनीत होता है। सत्य दरहकीकत कल्पना से बहुत विचित्र हुआ करता है। ऐसे चरित्र या पात्र जो अलौकिक से प्रतीत होते हैं, दुनिया के पर्दे पर पाये जायं, यह बात कोई असंभव नहीं। मगर साहित्य में हमें वे रुचिकर नहीं प्रतीत होते। उस चरित्र की अलौकिकता अरुचि और विरक्ति का जबर्दस्त कारण हो जाती है। अतः कलाविद की कुशलता तब है जब वह अनिंद्य सुन्दरी के चेहरे पर भी तिल देकर उसे संसार की बना दें। महा निष्ठावान व्यक्ति में भी एक ऐसी दुर्बलता दिखाये कि वह अलौकिक के बजाय इसी दुनिया का एक अधिवासी बन जाय। यह स्वाभाविक प्रचेष्टा ही साहित्य के लिए अभीष्ट है। अन्यथा साहित्य अस्वाभाविक होगा और साहित्यिक की निपुणता पर सन्देह की गुंजाइश होगी। मानवी अन्तर्वृत्तियों को पराकाष्ठा तक पहुंचाना ही श्रेष्ठ कला है कलाविद् को किसी निश्चित दृष्टिकोण की सङ्कुचित सीमा को छोड़ भावों को स्वाभाविक रूप से खिलने देना चाहिए। हमारी समझ से यदि प्रेमचन्द की कला पर कोई बँधी हुई धारणा न रही होती, तो वे इतने अधिक सफल होते कि उसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते। इस प्रकार विश्व के सङ्गीत में राष्ट्र की आत्मा के सङ्गीत को मिलाने की स्तुत्य चेष्टा उन्होंने अवश्य की है; किन्तु उसके द्वारा भारत के प्राणों के

सङ्गीत में विश्वसङ्गीत को मिला देने में वे समर्थ होते। अनन्त जलराशि में बूँद का समाना स्वाभाविक है, किन्तु बूँद में सागर का लय होना विश्व के लिये एक नई ही बात होती। और इस असम्भव को सम्भव कर देने का गौरव भी कितना सुन्दर होता है!

प्रेमचन्द की कला में हमें बहुत बड़ी त्रुटियाँ ज्यादा नहीं नजर आतीं। और जिन्हें हम त्रुटि कहें, किन्हीं अंशों में वह हमारी गलत धारणा की सूचना भी हो सकती हैं। चूँकि सत्य कथा से कहीं विचित्र होता है, अतः किसी हद तक वह स्वाभाविक है। किसी भी कृति को आलोचना करने के लिए पहले हमें उसके लेखक के रंग में अपने को रंग लेना जरूरी है। अन्यथा पद-पद पर भूल की सम्भावना होगी। किसी आलोचक ने बहुत दुरुस्त कहा है कि कोई भी उत्तम उपन्यास लेखक हो का जीवन-चरित्र होता है। इस सत्य में कोई संदेह नहीं, फलतः लेखक के साँचे में अपने को ढाल कर अपने विचारों के अनुकूल न होने से किसी भी कृति को बुरी कह देना बिल्कुल गलत है। लेखक पर देश और संस्कारगत भावनाओं का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। हिन्दी के क्षेत्र में जिन दिनों प्रेमचन्द उतरे, उन दिनों यहाँ दो प्रकार के आदर्शों के मध्य तुमुल संघर्ष मचा हुआ था। संस्कारगत प्राचीन भावनाओं पर यूरोपीय भावनाओं ने धीरे-धीरे अपना आधिपत्य जमाना प्रारंभ कर दिया था। यूरोपीय साहित्य के संसर्ग से भारतीय साहित्य के पुराने आदर्श भँवर में पड़ी हुई किश्ती की तरह डगमगा रहे थे। पाश्चात्य आदर्श ने जीवन को जगाने की भावनाओं के बदले

जीवन के यथार्थ स्वरूप के अनुशीलन का पाठ पढ़ाया। भारत का प्राचीनतम आदर्श—अन्तरात्मा की कल्याण-प्रद धर्म, भक्ति, सत्य और पुण्य की भावना—नवीनता का शृङ्गार करने लगा। सरल प्राण भारतीय जीवन की जिन जटिलताओं से सर्वदा दूर भागते रहे थे, जिन द्वन्द्वों और पीड़नों को भूलने के लिए धर्म-भावना के अनावश्यक आडम्बरों को साहित्य में प्रश्रय दे रहे थे, उनका रंग फीका पड़ने लगा। वे अनुभव करने लगे कि पुरातनता की अपेक्षा नूतनता में सत्य का स्वरूप अधिक सत्य, सुन्दर और मनोहर है। इसी संघर्ष-काल में प्रेमचन्द का उदय हुआ। समय की छाप उन पर पड़े बिना न रही। सामयिकता के प्रखर श्रोत में वह बह गये। फलतः परम्परा-गत रूढ़ियों पर उनकी आत्मा न रही और न इस वेगवान क्रांति के बवंडर में भारतीय संस्कार की सात्विक भावनाओं का लोप ही हो गया। इसी कारण उनमें नूतन-पुरातन भावनाओं का सम्मोहक सामंजस्य दृष्टिगोचर होता है। जीवन को उन्होंने उसी के रूप में देखा अथच इस अभिलाषा को भी तिलांजलि न दे सके कि जीवन ऐसा हो। अर्थात् उन्होंने यथार्थ की तो हृदय से पूजा की; किन्तु उसी में आदर्श का भी अनुष्ठान किया। यही प्रेमचन्द की कला की विशेषता है। उनकी कला के लिए हमें यह बात अवश्य ही ध्यान में रखनी चाहिए।

किन्तु विचारणीय विषय अब इतना ही रह गया कि इस विशेषता की ओट लेकर उनकी कला आदर्श से च्युत तो नहीं हो गई? हमने इस प्रश्न का उत्तर भावांतर से पहले ही दे

दिया है। कला से हम सुरुचि का जितना दावा कर सकते हैं, उतना सुनीति का नहीं। और सुनीति के होते हुए भी वह सुरुचि पर किसी प्रकार की बाधा नहीं डालती है और न तो उसकी स्वतंत्रता का ही अपहरण करती है। स्त्रियों की प्रेमचन्द ने वकालत जरूर की, पर उनकी दुर्बलताओं पर उनकी दृष्टि गई ही नहीं, ऐसी बात नहीं। उन्होंने मनुष्य को चित्रित करते हुए इसकी भी विवेचना कर ली है कि मनुष्यता क्या है। त्याग, दया, उदारता का स्थान उन्होंने बहुत ऊँचा रक्खा है, परन्तु मनुष्यों की दुर्बलताओं की विवशता दिखाते हुए उन्हें समाज में घृणा के बजाय दया पाने का अधिकार दिया है। उन्होंने त्याग और कर्त्तव्य की श्रेष्ठता दिखाई है जो किसी भी राष्ट्र के उत्थान के प्रमुख सहायक हैं। कहा जाता है, साहित्य राष्ट्र का प्राण है, इसलिए सुरुचि और सुनीति का सर्वाङ्ग सुन्दर समन्वय करनेवाले प्रेमचन्द का स्थान अन्यतम है। हम कह आये हैं कि हम कला के लिए सुनीति के विरोधी नहीं, मगर उस धारणा का विरोध करते हैं, जिसके अनुसार नीति रहित कला नहीं हो सकती। प्रेमचन्द के कला संबंधी विचार से हम सहमत नहीं, किन्तु उनकी कला को हम मानते हैं। उनकी कृतियों में नीति इस प्रकार मिली है गोया सोने में सुगन्ध। सुरुचि के अलावे नीति एक ऊपरी लाभ है। फल क्षुधा निवृत्ति के लिए हमें आवश्यक है। स्वाद के सिवा यदि वह वर्ण-गंध में भी सुन्दर हो तो उत्तम ही है। इसी हेतु हम प्रेमचन्द जी को बहुत ऊँचा स्थान देते हैं।